रेल का टिकट

भदन्त आनंद कोसल्यायन

रेल का टिकट

रेल का टिकट

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

प्रगति प्रकाशन
नयी दिल्ली

रेल का टिकट

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

प्रगति प्रकाशन
नयी दिल्ली

प्रकाशक
प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४-डी, फ़ीरोज़शाह रोड, नयी दिल्ली

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य १॥)

क्रम

यह ऊपर की कमाई

"आप अपनी लड़की की शादी अमुक पटवारी से कर दीजिये।"

"उसका वेतन कितना है?"

"वेतन कितना ही हो, ऊपर की कमाई बहुत है।"

दो व्यक्तियों के बीच हुये उक्त वार्तालाप की रिपोर्ट बचपन में सुनी थी। लगता था कि यह "ऊपर की कमाई" जीवन का एक असाधारण अनुभव है, कुछ ही लोगों के जीवन में घटने वाली एक असाधारण घटना। आज तो लगता है कि इस "ऊपर की कमाई" जैसी सरल कोई दूसरी बात रह ही नहीं गई।

× × ×

घूमते रहना यूँ ही भिक्षु का धर्म है, किन्तु 'रा० भा० प्रचार कार्य में जुट जाने से तो एक करेला दूसरे नीम चढ़ा वाली कहावत' चरितार्थ हो गई है। दिल्ली जा रहा था। बैठा था ड्योढ़े दर्जे में। भाई यशपाल जैन ने एक स्टेशन पर देख लिया। दिल्ली दो एक स्टेशन और रह गया था। वे बातचीत के लिये मेरे डिब्बे में आ बैठे। दिल्ली स्टेशन पर उतरने लगे तो एक टिकट-चैकर ने आकर उनका टिकट देखा। यशपाल जी के पास तीसरे दर्जे का टिकट था। टिकट-चैकर बोला—"तीसरे दर्जे का टिकट लेकर ड्योढ़े में यात्रा कर रहे हैं। किराया निकालिये।" बहुत समझाया कि यात्रा तो यशपालजी ने तीसरे दर्जे में ही की है। दो ही एक स्टेशन पीछे मेरे डिब्बे में आ बैठे थे। सामान अभी भी

उनका उसी डिब्बे में है। किन्तु वह "बाबू" था कि कुछ न सुनता था। कानून सुनाता था। बहस चल ही रही थी, और हम चले जा रहे थे—कुली, बाबू, यशपालजी और मैं। चलते-चलते हम गेट पर आ पहुँचे। बाबू ने हमें गेट-बाबू को सौंप दिया, और स्वयं चम्पत हो गया। अब हमें गेट-बाबू से नये सिरे से शास्त्रार्थ करना पड़ा। पहला बाबू न जाने कहाँ नौ दो ग्यारह हो गया। हम उसकी प्रतीक्षा में खड़े थे। तब तक गेट-बाबू ने कुली से कहा—"सामान उठाकर बाहर करो।" किसी भी बुद्धिमान आदमी के लिये इतना इशारा काफ़ी होना चाहिये। किन्तु यहाँ एक जैन था दूसरा बौद्ध। बौद्ध को आप बुद्ध भी समझ ही सकते हैं। बाबू का इशारा ख़ाक पत्थर कुछ भी समझ में न आया। इस समय हम दरवाज़े से बाहर किन्तु बाबू की पहुँच से बाहर न थे। ताँगे वालों ने हमें घेरना आरम्भ किया। उन्हें रोका—"भाई, इस झमेले से मुक्त हो तो चलें।"

"तो क्या देरी है?"

"उस बाबू की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह न जाने कहाँ चला गया।"

"महाराज, उसे भी तो कुछ देना ही पड़ेगा, इसी को काहे नहीं दे देते?"

"भाई, देने में और तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु इस तरह देना नहीं आता।"

ताँगे वाले ने यशपालजी के हाथ से १ या २ लिये और बाबू के हाथ में थमा दिये। अब क्या था उसने निधड़क सामान उठाया और अपने ताँगे में रखने के लिये ले चला। उस दिन हम दो साहित्यिक जीवड़े इतनी आसानी से इस "ऊपरी कमाई" के साक्षी बन गये कि कुछ पता ही नहीं चला।

यशपालजी को जब होश आया, तो बोले—"अब इसी पर एक कहानी लिखकर इसके दस गुने वसूल करूँगा।"

दिल्ली से इलाहाबाद आना होता है तो कानपुर होकर और वर्धा जाना होता है तो इटारसी होकर। कानपुर स्टेशन की ही बात है। शायद उस दिन दिल्ली से कानपुर तक का ही टिकट लिया था और जाना था आगे इलाहाबाद। कानपुर स्टेशन पर मैंने बाबूओं से अपने दो टिकट इलाहाबाद तक बढ़ा देने के लिये कहा। "अभी कर देते हैं" उत्तर मिला। कुछ देर इधर-उधर होती रही। "रसीद बही नहीं है, अभी आती है, इसके पास है, उसके पास है।" गाड़ी छूटने को हुई तो एक बाबू ने हिसाब करके निश्चित रकम माँगी। मैंने दे दी। चलती गाड़ी में उसने मेरे हाथ में रसीद थमा दी। ली गई रक़म में और दी गई रसीद में दो-एक रुपये का अन्तर था। गाड़ी कानपुर छोड़ चुकी थी और बाबू शायद कानपुर प्लेट-फार्म से खिसक चुका था। पता नहीं उस समय क्या करना चाहिये था? गाड़ी प्लेट-फार्म पर होती तो एक बार तो जंजीर पकड़कर गाड़ी रोक देता और फिर उस बाबू को पकड़ कर पूछता कि इस प्रकार वह रोज कितनी "ऊपर की कमाई" करता है? किन्तु मन की मन ही माँही रही।

× × ×

इलाहाबाद में एक और नया अनुभव हुआ। इलाहाबाद से दिल्ली के टिकट लेकर हम दो जने गाड़ी में बैठे। दो ही चार स्टेशन गये होंगे कि एक टिकट-चैकर ने आकर टिकट देखा और आपत्ति की। टिकट पर हाथ से रकम लिखकर शायद उसे पैसेन्जर-ट्रेन से मेल-ट्रेन का बनाया गया था। अथवा शायद क्लास ही बदली थी। बाबू बोला—"यह अनुचित है।"

"क्यों?"

"बाबू ने रेलवे को तो टिकट पर छपी कीमत का हिसाब दिया होगा और आप से हाथ की लिखी हुई रक़म वसूल की है।"

"तब क्या करना चाहिये था?"

"उससे कहना चाहिये था कि यदि उसके पास टिकट नहीं है तो

कापी में टिकट बनाकर दे, जिस में कार्बन कापी भी साथ रहे।"

"हमने उसे एक-एक टिकट के साढ़े अठारह रुपये दिये हैं।"

"हाँ, यह मैं जानता हूँ। इसीलिये आपसे चार्ज नहीं कर रहा हूँ। नहीं तो चार्ज कर सकता हूँ।"

"आप हम से चार्ज करेंगे तो हम उस बाबू की शिकायत करके, रेलवे से पैसा वापिस माँगेंगे। सम्भव है, इसमें उस बाबू को भी कुछ हानि पहुँचे।"

"हाँ, आप ऐसा कर सकते हैं।"

रेलवे बाबू ने हमें चार्ज नहीं किया। शिकायत करने का इरादा रहने पर भी बाद में मन ढीला पड़ गया। और हम शिकायत न कर पाये।

यह २२ नवम्बर सन् ४६ की घटना है। शिकायत करने के इरादे से टिकटों के जो नम्बर नोट कर लिये थे, वे अभी भी एक चिट पर लिखे हैं—२९७९ और २९८०।

पिछली बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी-समिति की बैठक के अवसर पर हैदराबाद के श्रीराम शर्मा वर्धा से ही अपने साथ थे। उस दिन मैं कुछ अस्वस्थ था। उन्हीं की सहायता से इटारसी तक विशेष आराम से आया। श्रीराम शर्मा का टिकट इटारसी तक था। और इटारसी में ज्यों ही हमारी गाड़ी पहुँची कि उसके पाँच मिनट बाद ही इलाहाबाद एक्सप्रेस छूट गई। इटारसी में नया टिकट खरीदने का अवसर ही न मिला। जैसे-तैसे वे बिना टिकट के ही गाड़ी में चढ़ सके। इटारसी तक का टिकट तो उनके पास था ही। प्रश्न था उसे आगे इलाहाबाद तक बढ़ाने का। इटारसी से प्रयाग प्रायः रोज ही आते-जाते रहने के कारण रेल के कुछ बाबुओं को मैं पहचान गया हूँ और वे मुझे। एक स्टेशन पर मैंने किसी टिकट-चेकर को ढूँढा। जब कोई न

मिला तो गार्ड से कहा। गार्ड बोला—"निश्चिन्त रहिये, यह काम जबलपुर चलकर भी हो सकता है।"

जबलपुर पहुँचे तो गाड़ी में बड़ी भीड़ आ घुसी थी। जैसे तैसे उसे चीरकर बाहर निकले। गार्ड को ढूँढ़ा कि यहाँ तो टिकट बन जाय। गार्ड ने एक टिकट-चेकर को बुलाया और टिकट बना देने के लिये कहा। टिकट-चेकर बोला—"जबलपुर से प्रयाग तक का ही टिकट न बना दूँ?"

मैं समझा कि बाबू रेलवे विभाग की हानि की चिन्ता न कर साधु का उपकार करना चाहता है। श्रीरामजी को आगे करके कहा कि टिकट इनके लिये चाहिये। टिकट बाबू ने दुबारा पूछा—"क्यों, इनका ही टिकट जबलपुर से क्यों न बना दें।"

गार्ड बोला—"हैं तो ये लोग जैंटल-मैन, यदि तुम्हारा इनका तै हो जाय, तो बना दो।"

अब मेरी समझ में आ गया कि यह साधु का उपकार करने की बात नहीं, यह तो अपना ही उपकार करने का रास्ता है। श्रीरामजी और उस रेल के बाबू को छोड़कर मैं स्टेशन पर आये दो-चार मित्रों से बात चीत करने के लिये एक ओर बढ़ गया।

बाद में मालूम हुआ श्रीरामजी से बिचारे का तै नहीं ही हुआ क्योंकि उन्होंने इटारसी से ही टिकट बना देने और पूरे पैसे लेने का आग्रह किया।

श्रीरामजी की दृष्टि में कदाचित् वह बाबू भला न था जो इटारसी से जबलपुर तक के किराये में से दो-चार रुपये अपने लिये चाहता था। दया का पात्र बिचारा! किन्तु श्रीरामजी उसकी दृष्टि में निश्चय से पूरे "मूर्ख" थे, जिन्होंने न अपना लाभ किया और न उसका होने दिया। इनके भी दो-चार रुपये बच जाते और उसे भी दो रुपये मिल जाते, तो कोई पूछे कि श्रीरामजी का उससे क्या बिगड़ता था!

× × ×

उक्त घटनायें भी ताज़ी ही हैं, किन्तु पुराणों का यह अनुभव तो एकदम

ताज़ा है। "जैन-जगत" के संपादक श्री रिषभदास राका और मैं दोनों साथ-साथ पुणें के लिये निकले। जब तीसरे दर्जे में जगह मिल जाय तो प्रत्येक सार्वजनिक-कार्यकर्ता का "धर्म" है कि वह तीसरे दर्जे में ही यात्रा करे। काम की हानि करके तीसरे दर्जे में ही यात्रा करने को "सिद्धान्त" बना बैठना यदि "मूर्खता" है तो यूँ ही दूसरे तथा पहले दर्जे में यात्रा करके सार्वजनिक संस्थाओं का पैसा फेंकना पाप है। इस विषय में राकाजी और मैं दोनों सोलह आने एक मत थे। वर्धा से कल्याण तक बड़े आराम से तीसरे दर्जे में यात्रा हुई। तीन सौ मील से ऊपर तक के यात्रियों के लिये हमारा डिब्बा सुरक्षित होने के कारण एक प्रकार से हमारे लिये ही सुरक्षित था। कल्याण में गाड़ी बदलनी थी। सामान हमारे पास अपेक्षाकृत ज़्यादा था। बम्बई से पुणें के लिये जो गाड़ी आई, उस में तीसरे दर्जे में न हमारे सामान के लिये जगह थी और न हमारे लिये। निश्चय हुआ कि दूसरे दर्जे में चला जाय। सामान रखवा दिया और मैं गार्ड को सूचना देने गया कि हमारे पास टिकट तीसरे दर्जे के हैं, किन्तु कल्याण से दूसरे दर्जे में बैठ रहे हैं।

वह बोला—"टिकट?"

मैंने टिकट दिखाया। गार्ड ने अपने पास रख लिया और बोला—"कोई टिकट-चैकर आये, तो कह देना कि गार्ड के पास हैं।"

कल्याण से पुणें तक किसी टिकट-चैकर ने दर्शन नहीं दिये। पुणें पहुँचने पर जब श्रीराकाजी गार्ड के पास पहुँचे तो उसने टिकट लौटा दिया। और बोला—"पाँच रुपये निकालो।"

राकाजी ने पाँच रुपये दिये। गार्ड ने रुपये लिये और अपनी झंडी बगल में दबाये अपने डिब्बे में चढ़कर दूसरी ओर जा उतरा।

पुणें में हिन्दी प्रचार संघ का वार्षिकोत्सव था। मैं उसका अध्यक्ष बनकर पुणें पहुँचा था। स्वभावतः कुछ मित्र स्वागत के लिये स्टेशन पर आये थे। मैं उनके साथ था और राकाजी मेरे साथ। उस समय

राकाजी के लिये यह तै करना कठिन हो गया कि वह उस "भले मानस" गार्ड का पीछा करें अथवा हम सब का साथ दें।

मैं मानता हूँ कि यदि राकाजी अकेले होते तो उस दिन उस गार्ड को यूँ ही न जाने देते।

किन्तु, उस दिन हम उस गार्डकी दृष्टि में पूरे जैंटल-मैन सिद्ध हुये। हमने उसे पाँच रुपये किस आराम से ले जाने दिये!

× × ×

अन्तिम घटना बहुत ही छोटी है। छोटी होने से ही क्या कोई चीज़ कम महत्त्वपूर्ण होती है?

कलकत्ते की ट्राम गाड़ी में यदि, चाहे जितने आदमी लटकने की स्वतंत्रता न हो तो वह बम्बई की ट्राम गाड़ी से बढ़कर है। बम्बई में निश्चित संख्या के ऊपर ट्राम अथवा बस किसी में भी चढ़ने नहीं दिया जाता। जिन्हें जगह नहीं मिलती, उन्हें तकलीफ़ अवश्य होती है, किन्तु जिन्हें मिल जाती है वे आराम से यात्रा करते हैं। हमें ग्वालियर टैंक जाना था। एक के बाद दूसरी गाड़ी आई। सभी एक से एक भरी हुई। ट्राम में जगह पाने की सारी चतुराई बेकार। जब खड़े-खड़े मुझे काफ़ी देर हो गई और मुझे कहीं जगह न मिली तो मैं अपने गन्तव्य स्थान की ठीक उलटी दिशा में जाने के लिये एक ट्राम में जा बैठा। ट्राम गाड़ी म्यूज़ियम तक जाकर वापिस लौटती थी। ट्राम कन्डक्टर ने मुझे वहाँ तक का टिकट बड़े अफसोस के साथ दिया। वह जान गया था कि मैं यह फालतू यात्रा केवल स्थान पाने के लिये कर रहा हूँ। ट्राम लौटी तो मैंने फिर टिकट माँगा। देखा वह टाल रहा है। तीन-चार बार पास से गुज़रा। सब को टिकट देता था, मुझे ही नहीं। वह चाहता था कि जहाँ से मैं पहले चढ़ा था वहाँ तक की यात्रा मुफ़्त कर लूँ।

जरा मेरा ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और मैंने आग्रह से टिकट माँगा तो उसने मुझे "मूर्ख" साधु समझकर टिकट दे दिया।

वह भला था। दयावान् था। साधुभक्त था। सज्जन था। सब

कुछ था । मेरे पीत-वस्त्र उसे बस कंपनी की दो पैसे की हानि की चिन्ता न कर मेरे दो पैसे बचाने की प्रेरणा दे रहे थे ।

काश, साधु के पीत-वस्त्र उसे दो पैसे के लिये यह अधर्म करने से रोक सकते ! साधु के पीत-वस्त्र में भी अब वह सामर्थ्य कहाँ !

शादी

शाम का समय। न दिन न रात। वीरेन्द्र ने कहा—"दूध गर्म हो गया। ले आऊँ?"

"थोड़ा ठहर जाओ। अभी एकदम शाम है।"

मैं अपनी रोहिल-कुटी के बाहर चारपाई पर बैठा था। थोड़ी ही दूर पर कोई आता दिखाई दिया। पीछे-पीछे कुली भी। सोचा—कौन आ रहा है? दूबेजी, वह तो आज आने वाले नहीं हैं। सुमन जी, वह भी २२ तारीख से पहले आने वाले नहीं हैं। तब यह कौन है?

इतने ही में शकल कुछ स्पष्ट हो गई। एक अपरिचित आवाज़ सुनाई दी—शुक्लजी यहाँ कहाँ रहते हैं?

"वह तो पहले रहते थे। अब तो नहीं रहते।"

"अब कहाँ चले गये?"

"अब हैदराबाद चले गये।"

"कब तक आयेंगे?"

"यहाँ से तो वह एक प्रकार से चले ही गये।"

"और वर्मा जी?"

"वे बाहर हैं। आने वाले हैं। अभी लौटे नहीं।"

आगन्तुक के इन प्रश्नों से पता लगा कि वह एक से अधिक अपने आदमियों का परिचित है। मैं कहने ही वाला था कि सामान उतरवा

दें। उसने ही कहा—"तो एक मिनट के लिए यहाँ सामान रख सकता हूँ ?"

"हाँ, हाँ" कह कर मैंने एक कुर्सी बिछवा दी और बिस्तरा तथा ट्रंक बरामदे में रखवा दिया।

आगन्तुक के बातचीत के लहजे से लगा कि वह पंजाबी है। कुली ने पैसे लेकर जब उन्हें "सलाम, बाबू" कहा तो बोले—"अरे! हम सलाम वाले नहीं हैं।"

कुली का कोई कसूर न था। उसने मुँह पर दाढ़ी देख कर ही "सलाम" कहा था।

मेरी इच्छा हुई कि मैं 'पंजाबी' में बातचीत करूँ, किन्तु अज्ञात कुल-शील से सहसा घनिष्ठता बढ़ाना बुद्धिमानी नहीं—सोच मैं वैसी ही भाषा बोलता रहा

"मकान ?"

"ज़िला लुधियाना।"

"जगरागांव' आप के ही ज़िले में है ?"

"मैं उसके पास का ही रहने वाला हूं।"

मेरे बारे में उन्होंने समझा कि या तो उधर के ही होंगे अथवा उधर कहीं आये गये होंगे।

एक तो यूँ ही अन्न का अभाव है सी० पी० में और वर्धा में विशेष। दूसरा उस समय चूल्हा ठंडा हो चुका था। भोजन बनाने वाली बाई खा-खिलाकर घर जा चुकी थी। मैंने कहा कि कुएँ पर हाथ मुँह धो आयें और शहर जा कर यदि कुछ खाना-पीना हो तो खा आयें। वे देर से लौटे। मैं उन के सोने की व्यवस्था करके सोना चाहता था। थोड़ी देर हो गई। लौट कर उन्होंने मुझ से पूछा—यहाँ अकोला में कोई विधवा आश्रम है ?

"आप को क्या काम ?"

"मेरे बहनोई ने मुझे लूट लिया है। मेरी गृहस्थी नहीं बस रही

है। पंजाब में लोग हज़ारों मांगते हैं। मैंने सोचा इधर से कोई मिल जाय तो मैं भी ले जाकर अपनी गृहस्थी बसा लूँ।"

बात सच्ची थी। पंजाब में लड़कियों की सचमुच कमी है, उसी प्रकार जैसे बंगाल में अधिकता। मुझे बारह वर्ष पुरानी बात याद आ गई। बटाला (जि० गुरदासपुर) में एक हिन्दु-सहायक सभा थी, जिसका उद्देश्य था अपहृत लड़कियों को गुण्डों के चँगुल से छुड़ाना और योग्य व्यक्तियों से शादी करा देना। उस सभा की ओर से जब कभी किसी भी लड़की के लिये "पतियों की आवश्यकता है" का इश्तहार छपता तो अर्ज़ियों का ढेर लग जाता। सभा के मैम्बरों को कोई चन्दा न देना पड़ता। ऐसे भावी-पतियों के 'दान' की कृपा से ही सभा का कोष कभी ख़ाली न रहता।

उसने मुझे कुछ सोचता देख प्रश्न दोहराया—

"तो अकोला में कोई विधवा आश्रम है?"

"एक नहीं, सुना है अनेक हैं, किन्तु वे व्यापार के अड्डे हैं।"

जीवन के कटु अनुभवों में अकोला का भी एक कटु अनुभव है। हमारे यहाँ का एक लड़का अपने किसी सम्बन्धी से अकोला मिलने गया। उसे पता लगा था कि सोलह सत्रह वर्ष पहले गाँव से भागा हुआ उसका मामा अकोला पहुँचकर धनी हो गया है। जाकर देखा सचमुच—सैकड़ों रुपयों की चाय पी-पिलाई जा रही है। खाने-पीने की थोड़ी सुविधा देख वह लड़का भी दो-चार दिन और वहीं रह गया। एक दिन पुलिस ने उसके मामा साहब को धर दबाया। लड़का भी चपेट में आ गया। बड़ी कठिनाई से कुछ सौ रुपये ख़र्च करके लड़का छुड़ाया जा सका। पुलिस का कहना था कि लड़के को छोड़ देंगे तो हमारा सारा केस ही कमज़ोर पड़ जायगा।

तब तक आगन्तुक ने फिर अपना प्रश्न दोहराया। ऐसी सामाजिक समस्या से दूर-दूर रहने के आदी मन को प्रश्न अच्छा नहीं लगा। इस बार उसने पूछा—"तो कितने तक काम बन जा सकता है?"

लाज-शर्म छोड़कर अकोला के 'आश्रमों' के बारे में जो दो-चार बातें सुन रखी थीं उन्हें बताई । "वहाँ वाले पहले आदमी की 'जाति' पूछ लेते हैं और फिर लड़की को उसी 'जाति' का बता कर पेश करते हैं ।....लड़की की 'शादी' हो जाती है । आदमी साथ ले जाता है । लड़की सिखाई-पढ़ाई कुलिया की तरह अपने पति के दिये हुये गहने लेकर फिर कभी-कभी उन्हीं लोगों के पास पहुँच जाती है ।" वह सज्जन थोड़े सहम गये । बोले—"मेरे पास जो रुपये हैं । मैं उन्हें यहाँ रख जाऊँ और जाकर देख तो आऊँ ।"

वे शुक्लजी से इस मामले में कुछ सहायता मिलने की आशा से आये थे । शुक्लजी यहाँ थे ही नहीं । तब उनके सामने दो ही रास्ते थे । या तो वापस लौट जाना या अकोला जाकर "क़िस्मत-आज़माई" कर आना । उन्होंने दूसरी बात का निर्णय किया ।

प्रातःकाल के दो-तीन घंटे मैं एकदम अपने लिये रखता हूँ । लगभग ९ बजे वीरेन्द्र से पता लगा कि रात वाले सज्जन अपना बिस्तरा और ट्रंक छोड़ कर चले गये ।

× × ×

एक दिन । दो दिन । तीन दिन........अब उनका ध्यान ही उतर गया । आज छः-सात दिन के बाद मैं शहर से ताँगे पर लौटा चला आ रहा था । देखा कि वही सज्जन स्टेशन की ओर से पैदल आ रहे हैं । रात के अन्धियारे में देखी शक्ल भी पहचान में आ गई । मैंने पूछा—

"अकोला से लौट आये ?"

"हाँ ।"

"काम बन गया ?"

"जी । उसे होटल में बिठाकर आया हूँ । होटल वाला कहता है कि कमरा खाली नहीं है ।"

मैंने बात समझ ली और बीच में ही टोककर कहा—"अकेले आये होते तो रात को फिर चारपाई बिछवा देता अब उस के साथ तो

व्यवस्था करना कठिन होगी।" "ठीक है। अकेले का क्या, वह तो मैदान में भी सो सकता है।"

तांगे पर बैठे-बैठे तांगे वाले से छिपा कर उन्होंने जो कुछ मुझे बताया उसका सार यही है कि वह किसी 'आश्रम' से तो नहीं, किन्तु 'आश्रम' से बाहर किसी दूसरी जगह से छः सौ में एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की लड़की को ले आने में सफल हो गये हैं।............

मैंने ताला खुलवाकर आपका ट्रंक-बिस्तरा उठवाकर तांगे पर लदवा दिया। वह बोले—मैं उसका इन्तजाम करके आता हूँ और तब आपको सब किस्सा सुनाता हूँ। वह लौट कर आये नहीं। इसीलिए कहानी अधूरी है............

मैंने भी एक दिन सिगरेट पी थी

जब भी मैं किसी को सिगरेट अथवा बीड़ी पीते देखता हूँ, मुझे अपना एक दिन का सिगरेट पीना याद आ जाता है। उसकी कथा इस प्रकार है:—

जिस परिवार में मैं पैदा हुआ था, उसमें दुकान पर हुक्के का चलन खूब था। चौबीस घंटे में शायद ही कोई ऐसा समय हो जब हमारी दुकान पर हुक्के की गुड़-गुड़ न सुनाई देती हो—अपवाद थे रात के तीन-चार घंटे। किन्तु मेरे पिताजी सिख न होते हुए भी गुरु नानक के बड़े भक्त थे। ऐसे भक्त कि हुक्के से वे वैसे ही डरते थे जैसे बंदर गुलेल से। अपने पिता श्री के लिए बंदर की उपमा देने के लिए पाठक मुझे क्षमा करें। कोई भी उपमा चतुर्मुखी नहीं होती, और यदि हो भी तो विकास-वाद के इस युग में 'बंदर की औलाद' कहलाना क्या कोई बड़ी निंदा की बात है? उनके बारे में मैंने सुना था कि जब पिताजी का विवाह हुआ था तो उस समय न जाने कौन कहीं से एक हुक्का ले आए। पिताजी विवाह छोड़ भाग खड़े हुए। अब इससे बढ़कर किसी को हुक्के से और क्या घृणा होगी।

हाँ, उनका पुत्र होकर मैंने एक दिन सिगरेट पी थी।

मेरे मामा थे—बड़े मीठे। यूँ तो चन्द्रमा तक को 'मामा' कहा गया है, और वह तो थे हर बार मिठाई लाने वाले मामा। वे सिगरेट पीते थे। हुक्के के अतिरिक्त। हुक्का झंझट की चीज़ है—भारी भरकम।

पीना हो तो सबके सामने ही पीना होता है। सिगरेट है कि मजे में अकेले में पी जा सकती है। वे सिगरेट पीते थे और उन्हीं के लिए मुझे कभी-कभी बज़ार से सिगरेट लाकर देनी होती थी। रैड-लैम्प। एक पैसे में छः। सिगरेट पीते बहुतों को देखा था, किन्तु 'मामा' का सिगरेट पीना मुझ पर असर कर गया। न जाने कितने 'मामा' इस प्रकार अपने स्नेह-भाजन भानजों के प्रकाश-स्तंभ सिद्ध होते हैं! सिगरेट के लिए भी 'प्रकाश-स्तंभ' शब्द कोई बहुत बुरा नहीं। साथी लड़कों की देखा-देखी, बाबुओं की देखा-देखी, कुछ मास्टरों की देखा-देखी और सब से बढ़कर मामाजी की देखा-देखी मैंने भी सिगरेट पीने का निश्चय किया। अपने साथी लड़कों का-सा बनने के लिए, कुछ अकड़कर चलने के लिए, कुछ ऊँचा उठकर चल सकने के लिए, ठीक कहूँ तो जेंटलमैन बनने के लिए मैंने सिगरेट पीने का निश्चय किया।

घर से मुझे उन दिनों दो पैसे जेब-ख़र्च के लिए मिलते थे। एक धेले की तीन सिगरेट बहुत थीं।

सिगरेट घर में तो पी ही नहीं जा सकती थी। बाहर ही पी जा सकती थी। बाहर चाहे हज़ार देखने वाले हों....छिपना तो परिचितों और घर वालों से ही होता है। एक पान वाले से धेलेकी तीन लीं, वही रैड-लैम्प और उसीकी दियासलाई से एक जला ली।

रेल का इंजन जब शुरू-शुरू में चलता है तो 'भप-भप' करता है, बस वही हालत मेरी थी। गले तक धुआँ पहुँचने की बात कौन कहे, सफ़ेद दाँत ही काले धुएँ का स्वागत न करते थे। बाहर से बाहर ही गर्दनिया देकर निकाल देते थे वैसे ही जैसे साउथ-अफ्रीका के गोरे अँग्रेज़ काले हिन्दुस्तानियों को।

जो हो, उस दिन मैंने मन ही मन सभ्य लड़कों में अपनी गिनती की। किन्तु ऐसा सभ्य लड़का किसी के किस काम का, जिसकी सभ्यता को किसी ने देखा न हो। सोचा खेल के मैदान में आज टूर्नामेंट है, वहाँ चलना चाहिए। वहाँ देखने वाले बहुत मिलेंगे। लोग खेल के

मैदान में जाते है टूर्नामेंट देखने के लिए, और मैं उस दिन जा रहा था अपने को दिखाने के लिए। क्या करूँ? खेल का मैदान कुछ दूर था और इधर 'भप-भप' करके चलती हुई मेरी सिगरेट समाप्त हो चली।

एक नई समस्या पैदा हुई। यह सिगरेट बुझ चली है और पास में दियासलाई नहीं! खेल के मैदान में पहुँचकर किसी को क्या दिखाऊँगा। मैंने दूसरी सिगरेट जला ली। अब फिर मेरी रेलगाड़ी नई रफ्तार से 'भप-भप' करती आगे बढ़ी।

किन्तु, यह क्या खेल के मैदान में कोई है ही नहीं! मुझे टूर्नामेंट की ग़लत सूचना मिली थी। टूर्नामेंट आज न होकर किसी दूसरे दिन था। मैं दो-दो सिगरेट जला चुका था और मेरे उस सभ्य-रूप को अभी तक किसी एक आदमी ने भी न देखा था!

आदमी जब किसी भी कल्पना के वशीभूत हो जाता है तो वह जल्दी हार नहीं मानता। मैं भी जल्दी हार मानने वाला नहीं था। सोचा किसी न किसी को तो आज अपनी इस प्रगति से परिचित कराके ही रहूँगा। पुराण-प्रसिद्ध नारदमुनि को अपनी शक्ल दिखाने की उत्सुकता उस दिन की मेरी उत्सुकता से कम ही रही होगी।

वापसीपर घर के रास्ते में एक सहपाठी रहते थे। सोचा, कोई एक भी तो मेरे आज के इस सभ्य रूप का साक्षी बने!

अब तक दूसरी सिगरेट भी बुझ चली थी। पास में दियासलाई थी ही नहीं। तीसरी सिगरेट जला लेने के सिवाय कोई चारा न था। मैंने अपनी अंतिम और तीसरी सिगरेट जला ली। भप-भप करती हुई गाड़ी मित्र के घर ही रुकी। मुँह से सिगरेट हाथ में ली। उसे पीछे छुपाकर अपने साथी को आवाज़ दी। साथी घर से निकल आया। सिगरेट पीछे छिपी थी। उसका ध्यान मेरी सिगरेट की ओर आख़िर कैसे आकर्षित होता! जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इतनी दूर चलकर आया था वह पूरा ही नहीं हुआ। आख़िर मैंने स्वयं अपनी सिगरेट उसे दिखाते हुए कहा—यार! किसी से कहना नहीं कि, मैं सिगरेट पीता हूँ।

कोई पूछे यदि अपना सिगरेट पीना छिपाकर ही रखना था तो इतना द्रविड़-प्राणायाम करके जनाब उसे प्रगट करने के लिए अपने साथी के घर गये ही क्यों! इसका उत्तर यही है कि यह मन के लुक-छिपाओ के खेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं। आदमी किसी बात को सभी से छिपाकर भी नहीं रखना चाहता, और सभी पर प्रगट भी नहीं करना चाहता। वह पूरा-पूरा छिपाकर भी नहीं रखना चाहता और पूरा-पूरा प्रगट भी नहीं करना चाहता। कभी-कभी तो ऐसा लगता है इसी अर्द्ध-गोपन और अर्द्ध-प्रगटी-करण में जीवन की सारी कला और सारी सरसता निहित है।

मित्र के घर से विदा हुआ तो तीनों जल चुकी थीं और एक हद तक उस दिन का सिगरेट पीने का उद्देश्य भी पूरा हो चुका था। अब सिगरेट ने अपना प्रभाव दिखाना आरंभ किया। हल्का-हल्का सिर-दर्द आरंभ हुआ और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। घर पहुँचते-पहुँचते सिर फटा जा रहा था। जीवन का सिगरेट पीने का पहला और आखिरी दिन और एक दम एक साथ तीन, और वह भी रेड-लैम्प....जिनके बारे में सुना था कि तंबाकू तो कम, किन्तु घोड़े की लीद ही अधिक रहती है।

शाम होती गई और सिर दर्द बढ़ता गया। उसे व्यथा कहूँ, वेदना कहूँ, अथवा पीड़ा कहूँ, जिस शब्द से भी आपको तीव्रतम कष्ट का बोध होता है उसी का प्रयोग कर लीजिये। पिताजी अभी बाहर से घर न आये थे। डरता मैं माताजी से भी था, किन्तु पिताजी का डर कुछ दूसरी ही चीज़ था। माताजी से भविष्य में उनकी सब आज्ञायें मानने का समझौता इस शर्त पर हुआ कि वह आज पिताजी से येन-केन प्रकारेण मेरी रक्षा कर दें। माताजी के आदेशानुसार मैं कुएँ पर गया। बड़ी देर तक सिर पर ठंडा पानी डालता रहा। उससे जैसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। हुआ अवश्य होगा, किन्तु पहले ही दिन तीन रैड-लैम्पों की गर्मी क्या इतनी आसानी से उतर सकती थी?

रात भर मुँह ओढ़े पड़ा रहा। न खाया। न पिया। माताजी ने

पिताजी से कुछ कहकर टाल दिया। उन्होंने भी शाम से ही लेट जाने का कारण जानने के लिए बहुत आग्रह नहीं किया।

कहीं पिताजी को पता लग जाता कि मैंने उस दिन सिगरेट पी थी तो वे बिना कड़ा दंड दिए न मानते। वे यह तनिक भी न सोचते कि सिगरेट पीने का कड़ा दंड तो इस ग़रीब को मिल ही गया है... सिर में इतनी पीड़ा हो रही है। वे मुझे अवश्य दंड देते।

उस दिन की उस 'वेदना' को याद करते मैं आज भी काँप उठता हूँ। सोचता हूँ तीन रैड-लैम्पों ने ही मुझे इस बुरी तरह जला दिया था और लोग तीस-तीस सिगरेट फूँक देते हैं। कैसे? शनैः शनैः आदमी को विष खाने का भी अभ्यास हो जाता है, सिगरेट तो बिचारी सिगरेट है।

यदि किसी आदमी ने सिगरेट न देखी हो और आपको उसे यह बताना हो कि सिगरेट क्या वस्तु है, तो आप बड़े मज़े से कह सकते हैं कि सिगरेट काग़ज़ और तमाखू की बनी हुई एक छोटी सी नली है, जिसके एक सिरे पर आग रहती है, दूसरे सिरे पर मूर्ख आदमी।

प्रश्न उठता है कि आदमी सिगरेट क्यों पीता है? एक ही कारण से, उसी एक कारण से जिस कारण से आदमी बीड़ी पीता है, गाँजा पीता है, अफ़ीम खाता है, और शराब पीता है। वह कारण है संगति-दोष। संगतिदोष से आदमी इन नशेरूपी पशुओं की सवारी करता है, किन्तु अचिर काल में ही ये पशु उस आदमी पर सवार हो जाते हैं। वह स्वयं डाली हुई आदत का गुलाम बन जाता है।

क्या इन नशों में 'मज़ा' नहीं होता? नहीं ही होता। यदि 'मज़ा' हो तो प्रथम अनुभव ही मज़ेदार होना चाहिए। छोटे बच्चे मिर्च से कितना घबराते हैं। आदमी को अभ्यास न हो तो थोड़ी-सी मिर्च बड़े से बड़े आदमी की आँख से भी आँसू निकाल देती है, किन्तु स्वयं मिर्च खाने वाले जब शनैः शनैः दूसरों को भी उसकी आदत डाल देते हैं, तो मिर्च में भी मज़ा आने लगता है।

मैंने बड़े-बूढ़ों को छोटे बच्चों को सिगरेट-बीड़ी और हुक्के की लत लगाते देखा है। आदमी जो कुछ स्वयं खाता-पीता है वही तो अपने भगवान् को चढ़ाता है। बड़े बूढ़े छोटे बच्चों को सिगरेट बीड़ी हुक्के आदि की आदत डालते हैं, तो समझते हैं कि हम उन पर अपना स्नेह प्रगट कर रहे हैं। काश! वह अपने ऐसे स्नेह को अपने तक ही सीमित रखा करें। अभागे बच्चों का भविष्य न चौपट किया करें।

और यह 'मज़ा' जब शनैः शनैः सचमुच 'मज़ा' बनने लगता है, तो साथ ही साथ वह घटना शुरू हो जाता है। अनेक दूसरी चीज़ों की तरह मज़े का भी न कोई माप है, न तोल। किन्तु अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं एक सिगरेट के 'मज़े' को एक तोला मान लेता हूँ। गणित के हिसाब से दो सिगरेटों में दो तोला 'मज़ा' आना चाहिए, किन्तु नहीं, बस पौने दो तोले ही रहता है। उस कमी को पूरा करने के लिये यदि आदमी एक सिगरेट और पिये तो उसका 'मज़ा' सवा दो तोले भले ही हो जाय, संभव है ढाई तोले ही हो जाय, किन्तु तीन तोले कभी नहीं होगा। आप एक-एक सिगरेट की मात्रा बढ़ाते जाइये, 'मज़े' की मात्रा घटती जायेगी। एक दिन आयेगा कि आपको सिगरेट पीने में कुछ 'मज़ा' न आयेगा, किन्तु न पीने से जो दुःख होगा उसी को मिटाने के लिए आप बिना सिगरेट पिये न रह सकेंगे। ज़रा सोचिये उस आदमी की क्या दयनीय दशा होगी जिसे पीने में कुछ 'मज़ा' नहीं आता और न पीने से होता है महान् दुःख!

मैंने एक बार एक रियासत के एक मंत्री से जो बड़े पियक्कड़ भी थे, पूछा—"श्रीमान् जी! बिना स्वयं कभी पिये आपके पीने के बारे में मेरी यह राय है कि आपको अब पीने में कुछ 'मज़ा' नहीं आता होगा, किन्तु आप पीते केवल इस लिए होंगे कि बिना पिये रहा नहीं जाता होगा।" बोले—"स्वामीजी! आप बिलकुल सच कहते हैं।"

उस राज्य के उन मंत्री महोदय के प्रति उस दिन मेरे मन में सच्ची सहानुभूति जाग उठी थी। कितने दया के पात्र थे बिचारे! "सब लोग छोड़

यों नहीं देते ?" उन्हें यह सूझता ही नहीं कि नशे से छुटकारा पा लेना ही नशे की झंझटों का एक मात्र इलाज है। और उनके मन में कुछ मिथ्या-विश्वास भी घर कर जाते हैं। मिथ्या विश्वास मिथ्या भले ही हों, किन्तु उनके विश्वास होने में कुछ कोर-कसर नहीं होती। सिगरेट के अभ्यासियों को बिना सिगरेट पिये शौच नहीं होता। शौच-क्रिया शारीरिक और मानसिक दोनों हैं। एक बार किसी का यह विश्वास जम जाने पर कि उसके सिगरेट पीने और शौच होने का अविभाज्य संबन्ध है, सचमुच यह संबंध स्थापित हो ही जाता है। जिस प्रकार आदमी स्वयं यह संबंध स्थापित कर लेता है, उसी प्रकार यदि आदमी चाहे तो शनैः शनैः अपने आपको इस कल्पना-जाल से मुक्त भी कर सकता है। किन्तु यह काम आदमी के अपने करने का है। कोई दूसरा इसमें आदमी की कुछ भी सहायता नहीं कर सकता।

लगभग २५ वर्ष पहले देश में टेम्प्रेंस-प्रचार की चर्चा थी। सिगरेट, बीड़ी, और शराब के विरुद्ध व्याख्यान सुनने में आते थे। अब तो सरकार भी नशीली वस्तुओं के निषेध और प्रचार का काम एक साथ कर रही है। देश और समाज का दुर्भाग्य है कि यह दोनों काम किसी की जीविका के साधन हैं, और किसी के व्यापार के।

त्रिपुरी कांग्रेस में कुछ लोगों को ठहरने की काफ़ी असुविधा थी। बीड़ी के एक बड़े व्यापारी ने कांग्रेस पंडाल के पास ही एक बड़ा पंडाल बनाया था, जहाँ उसने अपने मित्रों तथा मित्रों के मित्रों और उनके भी मित्रों को ठहराया था। कांग्रेस की रहने, नहाने, खाने की व्यवस्था से इस बीड़ी के व्यापारी की व्यवस्था बहुत बढ़कर थी। एक गांधी भक्त मित्र की कृपा से मुझे भी वहीं आश्रय मिला था।

बड़े-बड़े प्रसिद्ध व्यक्तियों का सिगरेटबाज़ होना भी सिगरेट प्रचार का बड़ा कारण है। हमारे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू यथावश्यकता, इधर-उधर ओट में पी लेते हैं, उसका प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु मौलाना अबुल कलाम आज़ाद बड़े ठाट से कांग्रेस-मंच पर ही धुआँ उड़ाने लगते

हैं। लड़के देखते होंगे तो अपने शिक्षा-मंत्री से कुछ शिक्षा ही ग्रहण करते होंगे। श्रेष्ठजनों के आचरण का अनुकरण ही तो इतर जनों का धर्म है! रेलों में तो अब सिगरेट, बीड़ी न पीने वाले के लिये मुसीबत है। कहीं-कहीं लिखा रहता है सिगरेट पीना मना है, लेकिन यह उतना ही बेकार है जितना रेल के डिब्बे में बैठने वालों की संख्या का लिखा रहना।

लापरवाही से इधर-उधर फेंके गये सिगरेटों से जो कभी-कभी बहुत हानि होती है, वह उस हानि के मुकाबिले में कुछ भी नहीं जो आदमी स्वयं सिगरेट पीकर अपनी करता है।

सिगरेट जलाने वाले समझते हैं कि हम सिगरेट को जलाते हैं, किन्तु सच्चाई यह है कि सिगरेट ही उनको जलाती है। एक दूसरे प्रसंगमें कहा हुआ उर्दू का यह शेर सिगरेट पर भी लागू होता है:—

जो जलाता है किसी को खुद भी जलता है जरूर,
शमा भी जलती रही परवाना जल जाने के बाद।

यदि कोई सिगरेट की जलन से अपने आपको सुरक्षित रखना चाहता हो तो बिचारी सिगरेट को ही बख़्शे।

नहीं तो यह जलायगी और ज़रूर जलायगी। अपने जलाने वाले को अपनी ही तरह खाक बना कर छोड़ेगी। एक बार 'दाग़' के मुँह में सिगरेट ही बोल उठी थी—

पड़ा फ़लक को कभी दिल जलों से काम नहीं,
जला के खाक न कर दूं तो दाग़ नाम नहीं।

४

स्वतन्त्र-भारत का पहला दस्ता

भारतीय रेलों की विशेषता थी—पहले, दूसरे, तीसरे दर्जे के साथ एक ड्योढ़े-दर्जे का भी होना। स्वतन्त्र-भारत ने उस ड्योढ़े दर्जे से मुक्ति पा ली। अगली पीढ़ियों को अब ड्योढ़े दर्जे की केवल कहानी सुनने को मिलेगी।*

किन्तु, सच्ची बात दूसरी ही है। नाम ड्योढ़े दर्जे का विलीन हुआ है, वास्तव में विलीन हुआ है पुराना दूसरा दर्जा। बनारस से हाजीगाबाद दस मील है। एक्सप्रैस-गाड़ी से तीसरे दर्जे का टिकट मना है। भीड़ की भीड़ दूसरे दर्जे का टिकट लेकर भर जाती है—इस गठड़ी में क्या है? कद्दू हैं। इस गठड़ी मे क्या है? घास है। क्या पुराने दूसरे दर्जे में आप को कभी यह दृश्य देखना नसीब हो सकता था?

हाँ, एक बात है लम्बी यात्रा करने वालों के लिये 'सोने' के जो दो-चार डिब्बे लगा दिये जाते हैं, और जिनमें अपना स्थान सुरक्षित कराने के लिये यात्री को १०॥) देने होते हैं, वे डिब्बे कुछ-कुछ पुराने दूसरे दर्जे की रीस अवश्य करते हैं। उनमें भी दो भेद हैं। पुराने दूसरे दर्जों के डिब्बे और नये डिब्बे। पुराने डिब्बे कुछ खैरियत हैं, किन्तु नये डिब्बों में छः आदमियों के सोने और सामान रखने के लिये स्थान की

---

* ड्योढ़े दर्जे का फिर आरम्भ हो जाना पता नहीं हमारी सरकार की किस नीति का परिणाम है।

इतनी कमी कहती है कि दिल्ली की गर्मी में तो कलकत्ते का 'ब्लैक-हाल' (काला-भवन) बिना याद आये नहीं रहता।

पिछली बार सौभाग्य से मुझे पुराना दूसरा दर्जा मिल गया। चार-पाँच दिन पहले ही मैंने अपने एक मित्र की मार्फत दिल्ली से वर्धा आने के लिये "दूसरे दर्जे" में सोने के दो स्थान—एक अपने लिये और एक अपने साथी दिनेश के लिये—सुरक्षित करा लिये थे। स्टेशन पर पहुँचने पर देखा कि उस डिब्बे में केवल हम ही दो जने हैं। जगह चार की है। तीसरा कोई नहीं। दिल्ली की गर्मी में थोड़ी खुली जगह मिल जाने से स्वाभाविक प्रसन्नता हुई।

डिब्बे में और लोग आना चाहते थे, और उनके पास टिकट भी दूसरे दर्जे के थे, किन्तु यह 'सोने' की गाड़ी थी और उसमें बिना १०॥) अधिक दिये स्थान सुरक्षित नहीं हो सकता था।

गाड़ी चलने लगी तो नई दिल्ली के दो-चार मुसाफिर गाड़ी में चढ़ ही गये। दो-चार ज़ोर-ज़बर्दस्ती अगले कुछ स्टेशनों तक भी चले ही आये। 'सोने' का समय होने तक उस 'सोने' की गाड़ी में बैठे चलने का शायद उनका अधिकार भी था।

किन्तु, रात के दस बजे के बाद दो सिपाही—जो कॉंस्टेबल ही नहीं, हैड-कॉंस्टेबल ही नहीं, शायद दारोगा थे—हमारे डिब्बे में चढ़े चले आये। मेरे साथी ने कहा—"यह 'सोने' की गाड़ी है। इसमें शायद आप नहीं चल सकते। अच्छा होगा कि आप गाड़ी में बैठने से पहले किसी गार्ड अथवा टिकट-बाबू से पूछ लें।"

उन्होंने उसकी एक न सुनी और उस अल्पायु लड़के को डाँट दिया। मेरी आँख खुल गई। चुप रहना मुनासिब न समझा। मैंने कहा कि लड़का ठीक तो कह रहा है।

बोले—"अजी, सब पूछ लिया है!"

मैं—"देखिये, यह 'सोने' की गाड़ी है। जब तक १०॥) देकर

इसमें स्थान सुरक्षित न करा लिया जाय, इसमें शायद यात्रा नहीं की जा सकती।"

वे—"हम रोज़ इसी प्रकार चलते हैं। हमें सोना तो है ही नहीं। हम सोयेंगे तो ड्यूटी कैसे देंगे?"

मैं—"यह गाड़ी ड्यूटी देने वालों के लिये नहीं। यह सोने वालों के लिये है। आपको कोई अधिकार नहीं कि आप किसी की नींद में विघ्न डालें।"

वे—"अजी, इन बातों में क्या रखा है। आप आराम से सोइये। हम आप की जगह पर तो नहीं बैठते।"

मैं—"इन बातों में कुछ रखा है या नहीं, इसका निर्णय अभी हो जाता है। आप मेरे साथ गार्ड के पास तक चलिये।"

साधु वेश। और हिन्दी में कुछ अँग्रेज़ी शब्दों की मिलावट। वे नरमा गये। बोले—

"आप बताइये कि इस प्रकार गार्ड के पास जाने में आप की नींद में विघ्न नहीं पड़ेगा। आप आराम से लेटे रहिये। हम बैठे रहेंगे। हमें एक स्टेशन ही जाना है।"

मैं भी नरमा गया। बोला—

"आप कब उतरते हैं, इसकी चिन्ता में मुझे जागते ही रहना पड़ेगा। क्योंकि दरवाज़ा जो बन्द करना होगा।"

हुआ वही। उनमें से एक साहब ऊपर की सीट पर चढ़कर सो गये। दूसरे मेरे साथी के पाँव की ओर बैठकर ऊँघने लगे। अब उन दोनों की बजाये जागते रहने की 'ड्यूटी' मेरी ही गई।

प्रयत्न करने पर, बहुत देर करवट लेते रहने पर भी जब फिर नींद नहीं ही आई तो मैं उठ बैठा। देर तक यूँ ही बैठा रहा। नीचे बैठे हुये सिपाही की आँख खुली। उसने मुझे जागते ही नहीं, बैठे पाया। उसके मन पर, ऐसा लगा जैसे कुछ असर हुआ। बोला—

"बड़ा अफसोस है कि हमारे कारण आप की नींद खराब हुई। आप तो सोये ही नहीं।"

"अभ्यास कुछ ऐसा ही है। आँख खुल जाय तो फिर जल्दी नींद नहीं आती। कमरे में रोशनी का होना और इस टूटे हुए दरवाज़े की खटखट भी नींद आने में बाधक हुई।"

मैं तो जगा ही था। वह भी होश्यार हो बैठा। बोला—

"मैं आगरे यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट हूँ। १९४२ में जेल गया हूँ। फिर पुलिस में भर्ती हो गया। इस डिपार्टमेंट में नया ही हूँ। हम स्वतन्त्र-भारत का पहला दस्ता हैं।"

मैंने उसकी पुलिस-ट्रेनिंग, उसके रेलवे-पास, उसकी नियुक्ति, उसकी ड्यूटी आदि के बारे में अनेक बातें पूछीं। उसने भी मुझ से साधु होने का उद्देश्य तक पूछ कर छोड़ा। तब बोला—"आप जा कहाँ रहे हैं?"

"वर्धा।"

"वर्धा कहाँ है?"

"आप वर्धा नहीं जानते? जहाँ गांधीजी रहते रहे हैं।"

"अजी, हम ने भूगोल चौथे दर्जे के बाद पढ़ा ही नहीं।"

"तो भी वर्धा तो मालूम होना चाहिये।"

"तो क्या वर्धा दक्षिण में है?"

"हाँ, यहाँ से तो दक्षिण में ही है। किन्तु दक्षिण-भारत में नहीं। वह मध्य-प्रान्त में है।"

बातें करते-करते अगला स्टेशन आ गया। मैं सोच ही रहा था कि यह आगरा यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट है, १९४२ में जेल हो आया है, और इसे यह पता नहीं कि वर्धा कहाँ है। अच्छा है, यह स्वतन्त्र-भारत का पहला दस्ता!

तब तक वह बोला—

"देखिये जी! मैं तो यहाँ उतर जाऊँगा। यह जो ऊपर दारोगा

साहब लेटे हैं। इनका परिवार पहले दर्जे में है। वह छुट्टी पर घर जा रहे हैं। झाँसी उतरेंगे। यदि आप जागते रहें और इनकी आँख न खुले तो आप जगा दीजियेगा। देखिये! मैंने आपको साफ़-साफ़ बता दिया है। हर क़ानून का कुछ-न-कुछ अपवाद होता है।"

अच्छा अपवाद!

वह दारोग़ा साहब स्टेशन पर उतर गये। गाड़ी चलती रही। ऊपर लेटे दारोग़ा साहब खर्राटे लेते रहे। अच्छी ड्यूटी बजा रहे थे! झाँसी स्टेशन आने को हुआ, तो उनकी भी आँख खुली। नीचे झांक कर बोले—

"वह उतर गये। उन्होंने मुझे जगाया नहीं। मुझे भी उनके साथ उतरना था।"

मुझसे न रहा गया। बोला—

"व्यर्थ झूठ बोलने से क्या लाभ? आपको तो आगे जाना है। आपको यहाँ उतरना ही नहीं था।"

"मुझे बड़ा दुःख है। आप मुझे झूठा समझते हैं। मुझे यहाँ पिछले स्टेशन पर काम था।"

"खैर कोई हर्ज नहीं, अब अगले स्टेशन पर गार्ड या टिकट-चैकर से इस बात की सफ़ाई भी हो जायगी कि आप उस डिब्बे में चल सकते थे या नहीं?"

"अजी, वह तो सब साफ़ ही है। क़ानून के हिसाब से चलें तब तो सब मुश्किल हो जाय। क़ानून के हिसाब से कौन चल सकता है।"

"आप लोग तो कानून के पहरेदार हैं। आप ही कानून तोड़ेंगे तो पालन कौन करेगा?"

मुझे इसकी भी चिन्ता थी कि बात-चीत में कहीं अधिक कड़वाहट न आ जाय। नींद यूँ ही गँवा चुका था। कोई ऐसी-वैसी बात कहकर उसको और अपने को व्यर्थ और क्षुब्ध करना न चाहता था। बोला—

"आप चिन्ता न करें। यदि कुछ देना-लेना पड़ा तो आपको अपनी जेब से तो देना ही न पड़ेगा। देना तो आपके महकमे को होगा, क्योंकि आप 'ड्यूटी' पर हैं।"

"अजी महकमा क्या देगा!"

झाँसी स्टेशन आया। मैंने एक टिकट-बाबू से कहा। उसने जो फैसला दिया, वह 'दारोग़ा-साहब' के अनुकूल था। दारोग़ा बोला—

"मुझे आज्ञा दीजिये। मेरे बाल-बच्चे प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

हाथ मिला कर वह चलता बना।

मैंने दूसरे टिकट-बाबू से पूछा। उसका फैसला 'दारोग़ा' के विरुद्ध था।

तब तक 'दारोग़ा' जा चुका था।

आश्चर्य! कि दो टिकट-बाबुओं में भी आपस में मत-भेद था।

हाँ, वह 'दारोग़ा' भी 'स्वतन्त्र-भारत' के पहले दस्ते में से एक था!

५

एक राष्ट्र के दो झगड़े

पिछले दिनों जबलपुर में एक छोटी-सी घटना घटी, जिसे लेकर स्थानीय 'जय-हिन्द' और 'प्रहरी' ने न जाने कितना काग़ज और स्याही खर्च की।

प्रान्तीय सरकार के शब्दों में घटना इतनी ही है—

"१२ मई १९४२ को जबलपुर के डी० आई० पोलीस श्री तुलसी राम सिंह ने जो सादी पोशाक में थे, एक मोटरकार देखी, जिस पर झण्डा फहरा रहा था। श्री तुलसी राम सिंह ने समझा कि यह भारत का 'राष्ट्रीय' झण्डा है। शासन सम्बन्धी आदेशों के अनुसार 'राष्ट्रीय' झण्डा भारतीय मंत्रियों एवं निर्दिष्ट व्यक्तियों द्वारा ही लगाया जा सकता है। अतएव श्री तुलसी राम ने इसकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह सलाह दी कि वह झण्डा हटा लिया जाय। वह मोटर महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष सेठ गोविंद दास की थी। सेठजी को इन्सपेक्टर सूरत से नहीं पहचानता था। वास्तव में मोटर पर कांग्रेस का झण्डा लगा हुआ था। वह 'राष्ट्रीय' झण्डा नहीं था। सेठ गोविन्द दास ने इन्सपेक्टर के शब्दों पर आपत्ति की। समस्त घटना दुर्भाग्यपूर्ण थी, और वह ग़लतफ़हमी का कारण हुई।"

इस एक घटना का देश के अनेक पत्रों में समाचार छपा और स्थानीय पत्रों ने तो सचमुच बहुत अधिक महत्त्व दिया। एक ओर से सुझाया गया कि श्री तुलसी राम ने किसी के—समाजवादियों के—इशारे

पर सेठ गोविन्द दास जी की गाड़ी को रोका था, उन्हें व्यर्थ अपमानित करने के लिये। दूसरी ओर से कहा गया कि सेठजी व्यर्थ ही ज़रा सी बात पर उबल पड़े और अपनी उस तुनुक-मिज़ाजी को ढकने के लिये घटना को व्यर्थ ही राजनीतिक रूप दिया। यहाँ तक भी कहा गया कि गाड़ी पर वास्तव में सरकारी झण्डा ही लगा था, किन्तु बाद में वे घर जाकर उसे बदल आये।

यह सब बातें इतने ज़ोर के साथ कही गईं कि सरकारी वक्तव्य को 'विश्वसनीय' नहीं ही माना गया।

इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में उस 'दुर्भाग्य-पूर्ण' घटना का महत्त्व इस बात में नहीं है कि सेठ गोविन्द दास जी की गाड़ी को किसी श्री तुलसी राम ने रोका अथवा नहीं रोका? श्री सेठ जी को उस पर क्रोध आया या नहीं आया? श्री सेठजी की गाड़ी पर 'सरकारी' झंडा था—अथवा 'कांग्रेसी' झण्डा था? किन्तु तो भी यह घटना है महत्त्व-पूर्ण। क्यों?

एक समय था कि 'यूनियन-जैक' इस देश का 'सरकारी' झण्डा था। १९११ में बादशाह की ताजपोशी के दिन कोई विरला ही स्कूल का विद्यार्थी ऐसा होगा जिसकी छाती पर 'यूनियन-जैक' न जाकर बैठा हो। देश यूनियन-जैकमय था।

विदेश-स्थित भारतीय क्रान्तिकारियों ने देश के लिये 'राष्ट्रीय' झंडे बनाये, किन्तु वे विदेश में ही रहे।

भारत में सच्चे अर्थों में तिरंगे-झण्डे को ही सर्वप्रथम 'राष्ट्रीय झंडे' का स्थान मिला। एक शताब्दी के पूरे चौथे हिस्से तक तिरंगे झण्डे ने एक-छत्र राज्य किया।

१५ अगस्त १९४७ आया। हमारा 'तिरंगा' विजयी घोषित हुआ। नागपुर के झण्डा-आन्दोलन के बलि-पंथियों का बलिदान रंग लाया। देश में 'स्वराज्य' की घोषणा हुई।

प्रश्न हुआ 'यूनियन-जैक' का स्थान कौन-सा झण्डा ले? लाल-क़िले

पर कौन सा झण्डा फहराया जाय ? क्या तिरंगे झण्डे को, जो कि उस समय तक इस देश का 'राष्ट्रीय' झण्डा था, ज्यों-का-त्यों अपना लिया जाय अथवा उसमें कुछ हेर-फेर किया जाय ? बहुत सोच-विचार के बाद कांग्रेस के राष्ट्रीय-झण्डे में ही 'चर्खे' को 'चक्र' का रूप देकर उसे 'सरकारी' झण्डा बना लिया गया।

चर्खे को 'चक्र' का रूप क्यों दिया गया ? एक से अधिक कारण दिये गये हैं और दिये जा सकते हैं। राष्ट्रीय-झण्डे पर राष्ट्र का कोई सांस्कृतिक प्रतीक होना आवश्यक है। यह राष्ट्र धर्म-प्रधान है। इसके राष्ट्रीय झण्डे पर भगवान् बुद्ध का धर्म-चक्र जिसे अशोक ने भी अपनाया था, और जो इसीलिए अशोक के धर्म-चक्र के नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गया, क्यों न रहे। राष्ट्रीय-झण्डे पर चर्खे का स्थान 'चक्र' ने लिया—इसका एक और मुख्य कारण यही है।

जो 'चर्खे' के भक्त हैं, वे समझते रहे हैं और अपने मन को समझाते रहे हैं कि 'चक्र' भी 'चर्खे' का ही प्रतीक है और उसका अपेक्षाकृत संक्षिप्त, सरल और सुन्दर रूप है। जिन्हें 'चर्खा' उतना प्रिय नहीं, वे मज़े में अपने मन को यह समझा ले सकते रहे हैं कि चलो राष्ट्रीय-झण्डे पर से 'चर्खे' का निशान हटा। चक्र तो आधुनिकतम मशीन का भी प्रतीक माना जा सकता है क्योंकि वह कौन-सी मशीन है जो 'चक्र' के बिना गतिमान हो !

चर्खे में एक और भी दोष रहा। एक ओर पैर फैलाये चर्खे का चित्र एक ही तरह सीधा माना जा सकता था। पताका पर एक ओर इसके पैर एक तरफ़ होते, दूसरी ओर दूसरी तरफ़। 'चक्र' में यह सब कुछ नहीं। दोनों ओर समान।

कुछ लोगों ने इसे भगवान् कृष्ण का 'सुदर्शन-चक्र' भी कहना आरम्भ किया।

मुझे अपने देश की यह विशेषता मालूम देती है कि वह एक ही वस्तु को नाना-अर्थमय बना देता है। जब एक ही 'स्वराज्य' भिन्न-

भिन्न लोगों के लिये 'राम-राज्य' से लेकर 'सोवियत-राज्य' तक के अर्थ रख सकता है, तो एक 'चक्र' के भी नाना 'अर्थ' हो ही सकते हैं।

इन्हीं सब परिस्थितियों में हमारे 'चर्खे' ने 'चक्र' का रूप धारण किया और हमारा चक्रांकित तिरंगा देश का, देश की सरकार का झण्डा घोषित हुआ।

लाल क़िले पर जिस दिन पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने 'तिरंगा' फहराया, उस दिन जिन आँखों ने यह दृश्य देखा, वे सफल हो गईं। ऐसे ही दृश्य देखने के लिये कभी-कभी देवताओं को भी मानवरूप धारण करना पड़ता है।

हमारा 'तिरंगा' जिस दिन 'सरकारी' झण्डा बना—यह उसका 'उत्कर्ष' समझा गया। यह उसका उत्कर्ष था या अपकर्ष—यही आज विचारणीय विषय है।

'तिरंगे' झण्डे के दो रूप हो गये। एक 'सरकारी' तिरंगा झण्डा, और एक 'कांग्रेसी' तिरंगा झण्डा।

सरकारी 'तिरंगा' केवल 'सरकारी' इमारतों पर लग सकता है, सरकारी मन्त्रियों की मोटरों पर फहरा सकता है, किन्तु 'जनता' उसे न अपने मकानों पर लगा सकती है, और न कहीं फहरा ही सकती है।

किसी सामान्य आदमी की बात ही क्या, जब उस दिन महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति तक की मोटर यह जानने के लिये रोक दी गई कि कहीं उन्होंने अपनी मोटर पर सरकारी 'तिरंगा' तो नहीं लगा रखा है!

प्रश्न पैदा होता है कि सामान्य आदमी यदि अपनी गाड़ी पर कोई झण्डा लगाना चाहे तो कौन सा झण्डा लगाये? एक 'कांग्रेसी' का तो सीधा-सादा उत्तर है कि 'कांग्रेस' का झण्डा लगाये।

किन्तु 'कांग्रेस' देश की कितनी ही बड़ी राजनीतिक पार्टी क्यों न हो, वह देश की केवल एक 'राजनीतिक' पार्टी है। न सारा देश 'कांग्रेस' है और न 'कांग्रेस' ही सारा देश है।

भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा से पूर्व जब तक कांग्रेस देश की पराधीनता की बेड़ियाँ काटने में संलग्न रही, वह एक प्रकार से सारे देश का प्रतिनिधित्व करने लग गई थी; किन्तु जब से उसने कांग्रेस के बाहर के आदमियों को भी साथ लेकर एक 'राष्ट्रीय' सरकार की रचना की है, तब से क्या 'कांग्रेस' के समस्त देश का प्रतिनिधित्व करने के अधिकार में सचमुच अन्तर नहीं पड़ गया ?

हम देश की राजनीतिक पार्टियों के ऐसे गम्भीर विद्यार्थी नहीं कि उनकी ठीक-ठीक गिनती कर सकें।

कुछ 'राजनीतिक' पार्टियाँ ऐसी हैं जो आज 'राजनीतिक' पार्टियाँ बनती हैं, और कल नहीं रहतीं। 'हिन्दू-महासभा' और 'मुस्लिम-लीग' देश में ऐसी ही साम्प्रदायिक राजनीतिक पार्टियाँ हैं। दोनों की साम्प्रदायिक राजनीति के संघर्ष के परिणामस्वरूप ही भारत-माता के सिर---पंजाब और हाथ—बंगाल—के दो टुकड़े हुए, खून-खराबा हुआ और राष्ट्र-पिता की हत्या हुई। देश उबल पड़ा। दोनों ने अपने लिये 'समय' की प्रतिकूलता देख, दरबे में मुँह छुपा लिया। दोनों ने घोषणायें कीं कि अब हम लोग 'राजनीति' को प्रणाम करते हैं। किन्तु दो वर्ष के भीतर ही दोनों ने फिर अपना सिर उठाना आरम्भ कर दिया है। जब तक साँप का सिर न कुचल दिया जाय, तब तक क्या उससे यह आशा की जा सकती है कि वह कभी अपना सिर न उठायेगा ?

साम्प्रदायिक राजनीतिक पार्टियों के अतिरिक्त देश में दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ हैं, जिनमें इस समय कम्युनिस्ट पार्टी और समाजवादी पार्टी मुख्य हैं। दोनों मार्क्सवादी हैं। दोनों एक-दूसरे पर अधिक-से-अधिक अविश्वास करती हैं। कम्युनिस्टों की सम्मति में समाजवादी देश के पूँजीपति-वर्ग के प्रभाव में हैं और समाजवादियों की राय में कम्युनिस्ट रूस की शासन-व्यवस्था के। दोनों मार्क्सवादी होने से दोनों को हँसिया-हथौड़ा वाला अथवा चक्र और हल वाला लाल-झण्डा प्रिय है।

प्रश्न उठता है कि क्या आज दिन हर आदमी के लिये आवश्यक

है और अनिवार्य है कि वह या तो साम्प्रदायिक राजनीति को अपना कर हिन्दू सभा या मुस्लिम लीग के झण्डे को अपनाये, या कांग्रेस-वादी होकर कांग्रेस के झण्डे को, या मार्क्सवादी होकर हंसिया-हथौड़े वाले लाल झण्डे को ?

यदि एक आदमी इन तीनों प्रकार के झण्डों को भिन्न-भिन्न पार्टियों के झण्डे मान कर इन में से किसी को नहीं अपनाना चाहता, तो वह किस झण्डे को अपनाये ?

उत्तर दिया जा सकता है कि 'सरकारी झण्डे' को। किन्तु सरकारी झण्डा तो केवल विशेष व्यक्तियों के लिए है, अथवा विशेष अफसरों के लिए। ऐसी हालत में सामान्य आदमी किस झण्डे को अपनाये ?

वर्षों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भवन पर तिरंगा फहराता रहा है; और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) के—प्रांगण—में भी। व्यावहारिक प्रश्न है कि क्या उस का वहाँ लगा रहना 'गैर कानूनी' है ?

मैं अपने जैसी अन्य संस्थाओं के हित में भी इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ।

आखिर हमारा 'राष्ट्रीय' झण्डा कौनसा है ?

६

उसका ख़ून भी रंग लाया है—

इलाहाबाद रहता था तो उत्तर भारत के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेस, ला जर्नल प्रेस में आना-जाना होता। कभी-कभी प्रेस के मैनेजर श्री कृष्ण प्रसाद दर साहब के घर भी जा बैठता। उनका ड्राइंग-रूम एक अच्छा-खासा सजा-सजाया ड्राइंग-रूम था। एक दिन दर साहब की अनुपस्थिति में मैंने देखा कि सजावट की कई चीजों के बीचों-बीच एक छोटी-सी जूती रखी है—पुरानी सूखी हुई। ध्यान से देखने पर उस पर रक्त के लाल निशान लगे हुए थे।

दर साहब घर से बाहर आये तो मैंने पूछा—"यहाँ यह छोटी-सी जूती कैसी ?"

बोले—"हम जलियां वाला बाग (अमृतसर) गये थे। वहाँ किसी छोटे बच्चे की यह रक्त लगी जूती मिली। हम इसे उठा लाये हैं। हमारे बच्चे कुछ बड़े होंगे तो उन्हें बतलायेंगे कि देखो अंग्रेजों ने जलियाँ वाला बाग में तुम्हारे-जैसे छोटे बच्चों को भी मशीन-गन से भून दिया था।"

मैं सहम गया। उस अज्ञात नाम शहीद बालक की जूती मेरी आँखोंके सामने नाच रही है। उसी जैसे शहीदों के खून की खाद से ही जलियां-वाला बाग के देश में आज यह भारतीय-स्वतन्त्रता का फूल खिला है।

यह वह लता है जो बिना मान की रक्त की खाद के फलती फूलती ही नहीं।

७

रूस में राहुल जी का पारिवारिक जीवन

कुछ बातें तो प्रायः जानने को मिल जाती हैं, कुछ कभी-कभी। उस दिन कम्युनिस्ट पार्टी की मीटिंग में 'जनयुग' सम्पादक श्रीयुत रमेशचन्द्र सिन्हा ने जब राहुल जी से कहा कि राजनीतिक व्याख्यान तो हम आपके सुनेंगे ही, किन्तु यहाँ इस मीटिंग में इकट्ठे हुए आपके संगी-साथी आपके रूस के अपने पारिवारिक जीवन की बातें जानना चाहते हैं तो सारी उपस्थित मण्डली ध्यानावस्थित होकर राहुलजी की बातें सुनने लगी। राहुलजी ने बताया—

"मैं दो महीने कम तीन वर्ष देश से बाहर रहा। जब यहाँ से गया तो तेहरान में काफी रुके रहने पड़ा।"

पूछा—तेहरान में इतने दिन रुके रहने का क्या कारण था ?

"रूस की सरकार नहीं चाहती थी कि मैं उस समय रूस में प्रवेश करूँ।"

"तब आपको बुलाया ही क्यों था ?"

"बुलाया तो मुझे यूनिवर्सिटी ने था। यूनिवर्सिटी और सरकार एक ही चीज़ थोड़े ही हैं।"

आगे आपने बताया—

"रूस पहुँचने पर मेरा पहला काम था—अपने घर का पता लगाना। थामुस-कुक की तरह यात्रियों की सहायता करने वाली

एजेन्सी की मदद से मैं अपने घर पहुँचा। हमारा घर शहर से बाहर लेनिनग्राड के उपनगर में है—Takachei में। Takachei कहते हैं जुलाहों के मुहल्ले को। वहाँ बहुत से कपड़े बुनने की मिलें हैं। इस लिए उसका नाम है Takachei।

"जिस समय मैं घर पहुँचा तो श्रीमती सांकृत्यायन काम पर गई हुई थीं। लड़के के बारे में पूछा तो वह भी शिशु-शाला में गया था। आसपास के लोगों से पूछा कि ईगोर (राहुल जी का सुपुत्र) को कोई पहचानता है या नहीं? उत्तर मिला—उसे कौन नहीं जानेगा। इन्हीं की तरह काला तो है।"

राहुल जी का रंग 'काला' नहीं है; किन्तु यूरोप में और शायद यूरोपीय रूस में भी जो एकदम यूरोपियन-रंग नहीं है वह सब काला ही है।

राहुल जी वापिस अपने होटल चले गये। थोड़ी देर में श्रीमती राहुल सांकृत्यायन तथा इगोनविच राहुल होटल पहुँचे और राहुल जी को घर लिवा ले गये।

राहुल जी तथा श्रीमती राहुल सांकृत्यायन दोनों ही लेनिनग्राड यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं—राहुल जी संस्कृत के तथा श्रीमती तिब्बतियन की। दोनों का वेतन ३००० रूबल था; अपने यहाँ के बराबर।

किन्तु जब मुद्रा की क्रय-शक्ति समान हो तभी तो इस समानता का कोई अर्थ होता है। रूस का सामान्य मज़दूर वही और उसी प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकता है जैसा यहाँ ३००) मासिक पाने वाला आदमी।

आप जानना चाहेंगे कि जिस प्रकार हमारे विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों के घरों में दो-दो चार-चार नौकर रहते हैं उसी प्रकार राहुल जी के यहाँ भी कोई नौकर था या नहीं? नहीं।

तब काम? मध्याह्न का भोजन तो यूनिवर्सिटी से ही हो जाता था,

सुबह-शाम का भोजन घर बनता था। राहुल जी को केवल बरतन साफ करने होते थे।

अपने यहाँ तो प्रोफेसर क्या, कालेजों के विद्यार्थियों तक घर के लिये सौदा-सलफ लाने के काम को नं० २ काम समझते हैं, रूस में ऐसा नहीं समझा जाता। सभी अपना सौदा-सलफ स्वयं ले आते हैं और लकड़ियाँ तक स्वयं चीर लेते हैं। शहरों में लकड़ियाँ चीरने की नौबत ही नहीं आती, क्योंकि वहाँ तो सब काम बिजली के चूल्हों पर होता है।

राहुल जी की केवल एक ही सन्तान है—इगोर राहुलोविच। यहाँ से जाते समय शायद उसी का ख्याल कर के राहुल जी दो खिलौने ले गये थे—एक रामचन्द्र जी तथा दूसरे शिवलिंग की मूर्ति। रामचन्द्र जी तो रास्ते में टूट गये किन्तु शिवलिंग की मूर्ति जस-की-तस बची रही। वहाँ पहुँचे तो देखा कि इगोर राहुलोविच सायं-प्रातः ईसा की भक्ति करता है। कहाँ महान् नास्तिक राहुल सांकृत्यायन और कहाँ उन का ईसा-भक्त पुत्र। राहुल जी ने भी अपने देवता को वहाँ रख दिया। लड़के ने पूछा—"यह क्या ?"

राहुल जी ने उत्तर दिया—"यह हमारे देवता हैं।"

अभी तक बिचारा समझता था कि दुनिया में एक ही 'खुदा' है और वह 'ईसा' है, किन्तु अब वह चिन्ता करने लगा कि यह क्या दुनिया में दो खुदा हैं ?

राहुल जी से प्रश्न करता तो वह उसकी जिज्ञासा मिटाने के साथ-साथ उसे एक-एक कदम नास्तिकता की ओर बढ़ाते।

माँ को चिन्ता होने लगी। वह चाहती थी कि बच्चे पर राहुल जी का अधिक असर न पड़ने पाये।

हम लोगों का ख्याल है कि रूस में धर्म बिलकुल नहीं रहा, किन्तु यहाँ खुद महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन के घर में 'धर्म' छुपा बैठा था। रूस में तथा अन्य देशों में जो बड़ा अन्तर है वह यही है कि वहाँ

किसी भी एक धर्म को राज्याश्रय प्राप्त नहीं है। जिन्हें 'धर्म' का शौक है, वे वहाँ भी अपनी पसीने की कमाई उस पर खर्च कर सकते हैं।

अखबारों में छपा था कि राहुल जी को अपनी पत्नी-सहित भारत नहीं आने दिया गया। इस सम्बन्ध में पूछने पर राहुल जी ने कहा—"यह बात एकदम असत्य है। रूस में ब्रिटिश एम्बैसी में कुछ अँग्रेज थे, जिन पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया था। रायटर ने मुझे भी ख्वाहमख्वाह उन में शामिल कर लिया। लड़के की पढ़ाई का ख्याल कर मैं तो स्वयं उस की माता को भारत नहीं लाना चाहता था।"

अपने यहाँ पढ़ाई—अक्षरारम्भ—पाँच वर्ष से ही आरम्भ हो जाती है, किन्तु रूस में सात वर्ष से पहले कभी नहीं। यूँ पढ़ाई वहाँ शायद तीन ही वर्ष से आरम्भ होती है, चित्रों में चित्रित की गई कहानियों द्वारा। अक्षरारम्भ करने से पहले बच्चा बहुत-सी पढ़ाई पढ़ चुका होता है।"

फीस नहीं, मध्याह्न का भोजन निःशुल्क, पढ़ते समय फेल होने की चिन्ता नहीं, पढ़ाई की समाप्ति पर बेकार रहने की चिन्ता नहीं—जहाँ ऐसी व्यवस्था हो, वहाँ के विद्यार्थी क्यों न फूलों की तरह खिले रहते होंगे और वहाँ प्रतिभायें भी क्यों न खिल उठती होंगी।

राहुल जी से पूछा—आप कब तक यहाँ रहेंगे?

"अभी दो वर्ष तो लौटने का विचार नहीं।"

सम्मेलन का सौभाग्य है कि उसे इस वर्ष राहुल जी जैसा जन-नायक तथा साहित्य-नायक कर्णधार मिल गया है। सम्मेलन के सामने न काम की कमी है और न उसमें समस्याओं की।

८

एक लड़के की जान की कीमत सवा रुपया

मैं इस घटना अथवा दुर्घटना को लिखना नहीं चाहता था। मुझे उस आलोचक से डर लगता है जिस का काम केवल छिद्रान्वेषण रहता है, जो समालोचक न होकर केवल आलोचक होता है। ऐसे ही आलो-चकों के लिये कबीर ने कहा है—

"कबीरा निंदक नियरे राखिये......।"

बरामदे में बैठा लिख रहा था। हमारे प्रेस का चपरासी अन्ता दौड़ा-दौड़ा आया। "स्वामीजी! उस लड़के को किसी ने मार दिया है।"

"किसने?"

"पता नहीं किसने? शायद किसी ने ज़हर दे दिया है?"

"लड़का किस का है?"

"शायद किसी मुसलमान का।"

मेरा माथा ठनका। क्या यह 'महामारी' यहाँ भी चली आई? मेरे पास दो ही चार दिन पहले हैदराबाद सिन्ध से एक पत्र आया था। पत्र सम्भाल कर रखा होता तो उसे सारा-का-सारा उद्धृत कर देता। पत्र में लिखा था—"यहाँ यू० पी० के कुछ ऐसे मुसलमान पहुँचे हैं जिन का काम बच्चों को मिठाई में जहर मिला कर देना है। आज इतने बच्चे मरे....कल इतने बच्चे मरे।" मुझे लगा कि यह बात जैसे-तैसे यहाँ पहुँच गई है, और हो-न-हो किसी-न-किसी हिन्दू ने यहाँ सिन्ध का बदला चुकाना शुरू किया है। सिन्ध में एक या कुछ मुसलमान 'हिन्दू'

बच्चों को विष दे रहे हैं। यहाँ भी एक या कुछ हिन्दुओं ने मुसलमान बच्चों को विष देना आरम्भ किया है।

"इन बच्चों ने इन 'आततायी' हिन्दुओं और मुसलमानों का क्या बिगाड़ा है कि ये उन्हें विष दे रहे हैं?" मैंने अपने से पूछा।

एक 'अभिमन्यु' को—जो स्वयं योद्धा था—मारने वाले जिस देश के इतिहास में आज तक कलंकित हैं उसी देश में छोटे-छोटे बच्चों को मिठाई में जहर दिया जाना आरम्भ हुआ है !!!

किसी को चोट लग जाये और उस की कुछ सेवा बन सके, इस ओर से मैं जीवन में भरसक उदासीन नहीं रहा हूँ; किन्तु जो मर गया, अब उसके प्रति क्या कर्तव्यशेष रह जाता है? अपना हो या पराया, मृत व्यक्ति के प्रति तो आदमी का एकमात्र कर्तव्य यही है कि उसके 'वियोग' का अपने मन पर कम-से-कम प्रभाव पड़ने दे।

लड़के को 'मृत' जान कर भी मैंने कागज-कलम उठा कर रख दिया और अन्ना के साथ हो लिया।

लड़का बहुत दूर न था। उसे घेरे हुए जो भीड़ खड़ी थी, वह मुझे मेरे स्थान से ही दिखाई देती थी। चन्द मिनटों में ही मैं लड़के के पास पहुँच गया।

वर्धा की भूमि कुछ ऐसी है कि यहाँ बड़ा पेड़ होता ही नहीं। एक छोटे से पेड़ के नीचे, एक गड्ढे में, दस बारह वर्ष के लड़के को पड़ा पाया। पन्द्रह बीस आदमी उसे घेरे थे।

"यह लड़का यहाँ कितनी देर से पड़ा है?"

"कोई दो-तीन घंटे से।"

"क्या हुआ?"

"पता नहीं। शायद किसी ने मारा है।"

"लड़का किस का है?"

"वह सामने जो रेल का बाबू रहता है। उसी का नौकर है।"

"उसे किसी ने खबर नहीं दी?"

"खबर तो दी है। डर के मारे वह भी आता नहीं।"

"पुलिस को खबर दी है?"

"हाँ, दी है। लेकिन वहाँ से भी कोई आया नहीं।"

"उस का बाप-आप कोई नहीं?"

"है। बिचारा गरीब आदमी है।"

प्रश्नोत्तर चल रहा था और मेरी नज़र सड़क पर थी। पुलिस-स्टेशन से कुल दो फर्लांग की दूरी पर यह लड़का पड़ा हुआ था और पुलिस अभी तक नहीं पहुँची थी। मैं झल्ला रहा था। इसी बीच में ख्याल आया कि लड़के के हाथ पैर तो देखने चाहिये। मैंने नब्ज़ देखी। नब्ज़ हाथ में नहीं आई। किन्तु शरीर ठण्डा नहीं लगा। मेरा ध्यान उसके पेट के नीचे की ओर गया। देखा, छोटी आंत की समाप्ति की जगह पर जैसे कुछ हिल रहा हो। तुरन्त बोला—

"कौन कहता है कि लड़का मर गया है। लड़का जी रहा है। इसे तुरन्त हास्पिटल ले चलो।

"ले कैसे चल सकते हैं। अभी तक पुलिस नहीं आई।"

"तो क्या लड़के को मार दोगे?"

मेरे वहाँ खड़े होने से समिति के दो-चार कर्मचारी भी आते-जाते वहीं रुक गये थे। मैंने एक को कहा कि जाकर टाँगा ले आये। उस लड़के के मालिक के घर की ओर कुछ लोग गये। पुलिस अभी भी नहीं आई थी। जब तक पुलिस न आ जाय, लोग लड़के को हास्पिटल ले जाने के पक्ष में नहीं थे।

"उस दिन एक ओर 'कानून' टूटने जा रहा था और दूसरी ओर यह लड़का अपनी 'जान' तोड़ रहा था। प्रश्न यही था कि पहले कौन टूटे।

पुलिस के 'कानून' की परवाह न कर के अपनी जिम्मेदारी पर मैंने लड़के को तांगे में डलवाया। चाहता था कि कोई उसे हास्पिटल तक ले जाये। उपस्थित लोगों ने कहा—"स्वामी जी! आप ही ले जाइये।"

"मेरे ही भाग्य में यह पुण्य कार्य है" सोच मैं तांगे पर बैठ गया। पुलिस भी तब तक आ गई। सौभाग्य से हास्पिटल और पुलिस स्थान एक ही दिशा में थे। थाने पहुँचते ही दो मिनट में लड़के की संक्षिप्त सी रिपोर्ट दर्ज कराई गई। चन्द मिनटों में पुलिस के सिपाही और सरकारी कागज के साथ लड़का हास्पिटल में था।

डाक्टर ने बच्चे को एक बैंच पर लिटाकर चारों ओर से देखा-भाला।

'एमोनिया' जैसी कोई तेज चीज़ सुंघाकर उसे होश में लाने का प्रयत्न किया।

लड़का होश में नहीं ही आया।

डाक्टर की आज्ञा से वह किसी कमरे में लिटा दिया गया।

"अब डाक्टर जानें और उनका काम।" सब लोग वापस चले आये।

दूसरे या तीसरे दिन पता लगा कि लड़का जी गया है।

ताँगा लाने वाले कर्मचारी ने कहा—"ताँगे वाले ने सवा रुपया माँगा है।"

मैंने कहा—"एक लड़के की जान की कीमत कुल सवा रुपया। जाओ दे दो।"

६

दान

शायद ही कोई धर्म ऐसा हो, जिसने दान की महिमा न गाई हो। धन की तीन गतियां कही गई हैं—दान, भोग, और नाश। यदि धन दान नहीं कर दिया जाता, खा पीकर उड़ा नहीं दिया जाता तो फिर वह नष्ट होता ही है। यहां भी दान और भोग में प्रथम दर्जा दान का ही है।

धन के लोभी के लिये तो दान और मरण समान कहा गया है; तो भी धन का दान—भले ही सर्वस्व का हो—कोई बहुत महत्व नहीं रखता।

धन का दान, अंग प्रत्यंग का दान, प्राण दान, विद्यादान—इन दानों में देश काल तथा व्यक्ति भेद से कोई भी दान दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है।

भारतीय वाङ्मय में सभी तरह के दानों के एक से एक ज्वलन्त उदाहरण भरे पड़े हैं।

उत्तर भारत में 'लीलाओं' और 'नाटकों' द्वारा जिस दान से बालक अपने बचपन में ही अभिभूत हो जाते हैं वह है सत्य हरिश्चन्द्र का दान। राजपाट दे चुकने के बाद राजा हरिश्चन्द्र और उसकी रानी शैव्या जब अपने पुत्र के साथ काशी की गलियों में बिकने के लिये निकलते हैं, तो वे कौनसी आँखें है जो उस समय भीग नहीं जातीं?

जब एक राजा अपने पुत्र को आरे से चीरकर शेर के सामने डलवा

देता है, उस समय किसकी आह नहीं निकलती ?

क्या इन और ऐसी ही दूसरी कथाओं द्वारा दान की महिमा स्थापित की गई है ? हां, दान की किन्तु वर्ग विशेष को ही दान देने की।

मुझे इन और ऐसी सारी कथाओं में विवेक का अभाव और अन्धी श्रद्धा का पेटभर प्रचार दिखाई देता है।

'दान' दो तरह का होता है—दया बुद्धि से दिया जाने वाला और पूज्य बुद्धि से दिया जाने वाला। दुःखी, रोगी, दरिद्र को जो दान दिया जाता है वह दया बुद्धि से। साधु, महात्मा, आचार्य आदि को जो दान दिया जाता है वह पूज्य बुद्धि से।

स्वर्गादि के लोभ से जो दान दिया जाता है वह दान नहीं है, वह तो है व्यापार—ऐसा व्यापार जो नफे ही नफे का व्यापार समझा जाता है, किन्तु जिसमें घाटा ही घाटा होता है।

दया बुद्धि से जो दान दिया जाता है उसमें परहित होने से पहले आत्म-हित हो जाता है। बिना अपने मन को थोड़ी अथवा अधिक मात्रा में लोभ मुक्त किये कोई किसी को कुछ दे ही नहीं सकता। अपने मन को लोभ-मुक्त करना ही दान का वास्तविक उद्देश्य और उसका लोभ-मुक्त हो जाना ही उसका सच्चा फल।

और परहित ? परहित कभी होता भी है और बहुधा नहीं भी। यदि अधिकारी को दान दिया गया हो तो वह कल्याणकारी होता ही है; किन्तु यदि बनावटी अपंगु, बनावटी रोगी, अथवा बने हुए दरिद्र को दान दिया गया तो वह कल्याण की अपेक्षा अकल्याण का ही साधक होता है।

जो बात दया बुद्धि से दिये गये दान के बारे में कही गई है, वही बात पूज्य बुद्धि से दिये गये दान के बारे में भी लागू होती है।

पूज्य बुद्धि से दिये गये दान से मन का लोभ कम होकर जो आत्म-हित होता है, उतने लाभ के अतिरिक्त एक और भी लाभ है।

आचार्य गण पूज्य बुद्धि से दिये दान से प्रसन्न होकर दाता अथवा शिष्य को योग्य मार्ग का उपदेश करते हैं। किन्तु अधिकारी अनधिकारी की बात यहां भी पूर्णरूप से लागू है। अधिकारी को दिया गया दान ही कल्याण कारक होता है।

हमारा धार्मिक संस्कार है कि दान कभी भी अकल्याण कारक नहीं होता। शायद दाता के लिये नहीं ही होता होगा, किन्तु यदि देश, काल और पात्र के औचित्य, अनौचित्य का बिना विचार किये दान दिया जायगा तो उसके सामाजिक दुष्परिणाम तो होंगे ही।

दया-बुद्धि और पूज्य-बुद्धि से दिये जाने वाले दान को ही हमने दान कहा है, किन्तु दान का एक तीसरा भी प्रकार है—ख्याति-बुद्धि से दिया जाने वाला दान।

संस्थाओं को जो दान दिये जाते हैं, अखबारों में जिन दानों की सूचना छपती है, सभाओं में जिन दानों की घोषणा होती है—जो कभी दिये जाते हैं और अनेक बार नहीं भी दिये जाते—उनमें से अधिकांश ख्याति बुद्धि से ही दिये गये दान रहते हैं।

नाम की आकांक्षा किसे नहीं सताती? वृक्षों पर अपना नाम खोदने वाले लड़कों से लेकर, ऐतिहासिक स्थानों की दीवारों को काले करने वाले बाबुओं तक सभी तो नाम चाहते हैं। आज का व्यापारी जितने बड़े नेता को, जितनी बड़ी मात्रा में, जितना कम या अधिक देने से जितनी ख्याति होती है उसका पूरा पूरा हिसाब लगा कर दान देता है।

बहुधा लोग 'त्याग और दान' का पर्य्यायवाची शब्द मान लेते हैं। हर 'त्याग' दान नहीं होता, यद्यपि 'हर दान' त्याग होता है। हमें किसी कारण से कोई चीज़ अप्रिय हो गई, हमने उसे छोड़ दिया, उसकी ओर से निरपेक्ष हो गये, भले ही उसे कोई भी ले, तो वह 'त्याग' तो हुआ परन्तु 'दान' नहीं। सिद्धार्थ को राजपाट अप्रिय लगा तो उसने उसे थूक दिया, छोड़ दिया, त्याग दिया। वह महान् त्याग

था, महाभिनिष्क्रमण था,—किन्तु 'दान' नहीं था।

दान तो कहते हैं सोच विचार कर देने को। आत्म-हित के लिये देने को, परहित के लिये देने को। बीज बोना और दान देना एक ही समान है। जिस प्रकार अच्छे खेत में सोच विचार कर डाला गया बीज बहुत फलदायी होता है, उसी प्रकार अच्छे क्षेत्र में सोच-विचार कर दिया गया दान भी बहुत फलदायी होता है। बौद्ध वाङ्मय में भिक्षु-संघ को संसार का 'पुण्य-क्षेत्र' इसी अर्थ में कहा गया है।

प्रश्न उठता है कि क्या 'दान' लेने देने की प्रथा सदा से चली आई है और क्या यह हमेशा चालू रहेगी? जिस दिन पहली माता ने अपने शिशु को स्तन पान कराया होगा क्या, उसी दिन और उसी क्षण मानव-हृदय में 'दान' का शिलान्यास नहीं हो गया होगा? तब 'दान' का ऐतिहासिक आरम्भ कब और कैसे बताया जाय? किन्तु दान की उस मूल पुनीत भावना को लेकर आज 'दान' के नाम पर जो कुछ चलता है क्या उस सब का समर्थन किया जा सकता है?

उस दिन एक कुली अपने चार पैसे के लिये एक बाबू से झगड़ पड़ा। बाबू कहता था—"यदि तू दो चार पैसे ऐसे ही मांगे तो क्या दिये नहीं जा सकते; किन्तु तू तो झगड़ता है।" बाबू उसको ऐसे ही दो चार पैसे देने के लिये तैयार था, परन्तु उसकी हक़ की मज़दूरी नहीं।

दान की बात कहते ही हमारी आँखों के सामने उन बच्चों का चित्र खिंच जाता है, जो एक एक पैसे के लिये मुसाफिरों को ही हैरान नहीं करते; किन्तु स्टेशन पर फेंके हुए उनके झूठे पत्ते चाटने के लिये आपस में भी झगड़ते हैं। उस दिन गांधी टोपी पहने एक लड़का एक मेम साहब को चार पैसे के लिये हैरान कर रहा था। मेम साहब ने मुझसे पूछा—"क्या तुम्हारे देश में ऐसे बच्चों की समुचित शिक्षा की व्यवस्था नहीं है?" उस अंग्रेज महिला का वह प्रश्न शूल की तरह हृदय में जा चुभा।

लँगड़े, लूले, अन्धे अपाहिजों की भीखमंगी का अनुभव रेल में यात्रा करने वालों को रोज ही होता है। तांता बंधा रहता है। एक आता है, एक जाता है। कभी कभी तो एक एक डिब्बे में दो दो एक साथ खड़े रहते हैं—एक का भीख मांगना बन्द हो तब दूसरा आरम्भ करे। भिखमंगों की यह सेना लोगों की 'दया-भावना' से लाभ उठाती है। कुछ सचमुच मानव सहानुभूति के पात्र होते हैं, किन्तु अधिकांश के लिये तो भिखमंगी वैसा ही एक पेशा है जैसे अन्य पेशे। एक बार लाज शर्म छोड़कर दूसरों के सामने हाथ फैलाने की तैयारी कर लेने पर इस पेशे के लिये फिर और किसी पूंजी की आवश्यकता नहीं रह जाती।

और हृष्ट पुष्ट निकम्मे जांगर चोर "साधुओं" की यह जो पलटन है, उसके रूप में राष्ट्रीय शक्ति का कितना अपव्यय हो रहा है? जिस प्रकार लंगड़े, लूले, भिखमंगे, लोगों की दया,भावना से लाभ उठाते हैं, उसी प्रकार ये 'साधु-महात्मा', लोगों की धार्मिक-भावना से। और ये बड़े अभिमान से कहते भी हैं:—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥

अकृतज्ञता की पराकाष्ठा है। जिससे 'दान' लेते हैं उसे 'दाता' तक स्वीकार नहीं करते।

छल-विद्या की भी पराकाष्ठा ही है। यदि 'दाता' को सीधे-सीधे 'दाता' मानने लग जायँ तो फिर इन 'साधु-महात्माओं' का यह भिख-मंगी का व्यापार अधिक दिन न चले।

बहुधा लोगों को कहते सुना है कि ये भिखमंगे काम क्यों नहीं करते? उस दिन एक देवी ने एक बाबू साहब के सामने हाथ फैला दिया। बाबू साहब ने उसे कुछ न देकर एक लम्बा चौड़ा लेक्चर दिया। और उसके बाद उन्होंने मेरी ओर देखा। उनकी आंखें कह रही थीं कि वह मेरा समर्थन चाहते हैं। जब मैं कुछ न बोला तो

उन्होंने पूछा—"क्यों। स्वामीजी ! मैंने उसे ठीक कहा न ?"

"नहीं !"

"क्यों ?"

आप इसे कहते हैं कि काम करो, किन्तु यह देवी यदि आप से काम मांगने आये तो आप इसे काम भी नहीं दे सकेंगे।"

उन्होंने चुपचाप जेब में हाथ डाला और उसे कुछ पैसे दे दिये।

हमारा आज का समाज भिखमंगों को कहता है कि "काम करो" और काम खोजने वालों को कहता है कि "भीख मांगो।"

न इनके पास 'काम' है न 'भीख' है। भीख है भी, किन्तु काम एकदम नहीं। यूं काम की कमी नहीं। चारों ओर काम ही काम है—किन्तु वह काम कराने में किसी को "मुनाफा" नहीं।

और जिस काम से किसी को कुछ 'लाभ' नहीं होता वह समाज के लिये, जनता के लिये, कितना ही कल्याणकारी क्यों न हो—तीन काल नहीं हो....सकता.......।

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का यही आधार है।

क्या सब को काम मिल जाने पर 'दान' दिया लिया जाना बन्द हो जायगा ? नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना निश्चित कहा जा सकता है कि जब तक सबके लिये काम की और ऐसे काम की व्यवस्था नहीं होती—जो व्यक्ति की योग्यता और आवश्यकताओं के अनुरूप, हो, तब तक न भीख मांगना बन्द हो सकता है और न चोरी डाके।

भीग मांगना और चोरी-डाका एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कमजोर आदमी भीख मांगता है, शक्तिशाली आदमी चोरी करता है और उससे भी अधिक शक्तिशाली आदमी डाका डालता है।

तब किसी को कुछ 'दान' दिया-लिया जाय अथवा नहीं ?

'हाँ' और 'नहीं'। 'हाँ' यदि हम 'दान' को अपनी सामाजिक दुरवस्था का एक अवश्यम्भावी परिणाम और इसलिये अपना कर्तव्य

समझते हों, और कहीं यदि हम 'दान' को अपने समाज के अनेक असाध्य कोढ़ों की दवा समझते हैं।

इसलिये यदि हमें 'दान' देना है तो भले ही दें, बल्कि अनेक अधिकारी पात्रों को तो अवश्य ही दें, किन्तु साथ ही यह प्रयत्न करते रहें कि हम ऐसे स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक हों जिसमें एक वर्ग इतना दरिद्र न रहे कि उसे भीख मांगने के अतिरिक्त और कोई चारा न हो, और दूसरा वर्ग इतना शोषक न रहे कि वह पहले तो स्वयं ही भिखमंगों की सेना पैदा करे और फिर स्वयं ही उन्हें "दान" देने के नाटक कर लोगों की आंखों में धूल झोंकता फिरे।

यूं जिसे देना नहीं आता, वह धर्म के क, ख, ग से भी परिचित नहीं।

१०

व्याख्यान—फेफड़ों का निरर्थक व्यायाम

सुना है कि दक्षिण अफ्रीका की किसी रियासत में व्याख्याता के लिए यह आवश्यक नियम है कि वह जब भाषण दे तो एक ही पैर पर खड़ा होकर दे—उसी तरह जैसे मुर्गा एक टाँग पर खड़ा होकर बाँग देता है। उस नियम के पालन से और कुछ लाभ हो या न हो इतना लाभ तो होता ही है कि कोई भी व्याख्याता बहुत देर तक लोगों को जबरदस्ती बिठाये नहीं रख सकता और यदि रखे तो वह स्वयं पहले एक टाँग पर खड़े रहने का दण्ड भुगतने के लिए तैयार हो।

इन पंक्तियों का लेखक कोई व्याख्याता नहीं। तो भी क्या उसे व्याख्यानों का कुछ अनुभव नहीं! किसी ने कहा—हमारी शादी नहीं हुई तो क्या शादी होती देखी भी नहीं! और एकदम व्याख्यान दिये ही नहीं हों सो भी बात नहीं। समय-समय पर जो दिये सुने हैं उनमें से कुछ की कहानी इस प्रकार है—

१९२१ में हमारे गाँव में एक तरुण पण्डित जी आये। नाम था बाबूराम जी, गोरा बदन। नीली आँखें, मधुर कण्ठ और मधुर स्वभाव। उनके व्याख्यान से अधिक मुझे उनके स्वभाव ने प्रभावित किया। मैं उनके साथ हो लिया। मैट्रिक पास करके कालेज की छुट्टियों के दिनों में घर बैठा था। सोचा कुछ दिन बाबूराम जी के साथ-साथ गाँव-गाँव घूमा जाय। पास के गाँव में पहुँचने पर उन्होंने व्याख्यान के लिए खड़ा कर दिया। मेरे भी साथ-साथ घूमने का आखिर कुछ

उद्देश्य था ही । व्याख्याता बनना था, या नहीं सो नहीं कह सकता । व्याख्यान देने के लिए खड़ा क्या हो गया एक आफत मोल ले ली । वह कोई सभा में सभा भी न थी, गाँव की धर्मशाला में गाँव के लोग इकट्ठे थे । याद नहीं मेज-कुर्सी कहीं से जुटा ली गई थी या नहीं ? कदाचित् नहीं ही थी । पाँच-सात मिनट ही व्याख्याता बना होऊँगा— सिर का पसीना एड़ी को आ गया । स्कूल-कालेज में भी व्याख्यान दिये ही थे, किन्तु न जाने यह व्याख्यान कैसा था ! कभी-कभी ऐसे ही अनुभव से आदमी सदा के लिए मर जाता है । मेरा सौभाग्य समझिये कि उस दिन के ऐसे साहसपूर्ण अनुभव के बाद भी मैंने हिम्मत नहीं हारी ।

× × ×

अब मैं गाँव-गाँव घूमकर व्याख्यान दे सकता था अकेला ही । सभा हो, सभापति हो, मेज-कुर्सी हो, श्रोतागण हों, तब तो सभी व्याख्यान दे लेते हैं । एक दिन एक गाँव में इनमें से किसी की भी व्यवस्था न हो सकी थी । गाँव का जमींदार (जमींदार शब्द का पंजाबी अर्थ तो किसान है किन्तु युक्तप्रान्त तथा बिहार आदि के ही अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है ।) कांग्रेस-विरोधी होने से, कोई हमारी मीटिंग की मुनादी तक करने के लिये तैयार न था । मैंने कहीं से एक कनस्तर लिया और गाँव भर में घूम-घूम कर कह आया कि एक पण्डित जी आये हैं और धर्मशाला में उनका व्याख्यान होगा । मुनादी करने वाले महाशय जी ही स्वयं वह पण्डित जी थे । उस दिन दोपहर तक कहीं कुछ भी खाने-पीने को न मिला था, उससे पहली शाम को भी गाँव में उपवास ही करना पड़ा था । दो ढाई बजे उपरान्त में पण्डित जी की मुनादी समाप्त हुई और जो दस-पाँच आदमी धर्मशाला में पहुँच गये थे उनमें से कुछ ने देखा कि यह तो मुनादी करने वाला लड़का ही पण्डित जी बना खड़ा है । लेकिन, अब तो वे व्याख्यान सुनने आ ही चुके थे । सूखे मुँह और सूखे कण्ठ से कुछ न कहा ।

तब से आज तक व्याख्यानों और व्याख्याताओं का जितना कुछ भी अनुभव है उससे कह सकता हूँ कि संकोची-स्वभाव वाला व्याख्याता बन ही नहीं सकता। उसमें इस प्रकार का कुछ बकबक-पन भी होना आवश्यक है, अन्यथा यदि वह सुशीला संकोच-शीला बालिका को ही अपना आदर्श मानता रहेगा तब उसे व्याख्याता बनने की इच्छा को पहले नमस्कार कर लेना चाहिये।

× × ×

चार-पाँच वर्ष बाद। देश-भ्रमण के लिए यदि किसी के पास और कुछ पाथेय न हो तो उसके पास व्याख्यान तो होने ही चाहिये। हुशियारपुर (पूर्व पंजाब) के एक पण्डित जी रात के अँधेरे में चले जा रहे थे। चोर ने घेर लिया। पूछा "क्या है तेरे पास?"

"मेरे पास! मेरे पास हैं लेक्चर। लोगे!"

चोर हुशियारपुर के ही थे। उन्होंने पण्डित जी की आवाज पहचान ली और उन्हें छोड़ दिया।

मेरे पास कभी भी रटे हुये लैक्चर नहीं रहे हैं। हाँ दो-चार बातों को घुमा फिरा कर कहना ही तो हर व्याख्याता का काम है, सो मैं भी तब तक कर सकता था। व्याख्यान का आखिर कुछ उद्देश्य होना चाहिये। उन दिनों मेरे व्याख्यानों का उद्देश्य लोगों से परिचय बढ़ाना और परिचित लोगों की ओर से आशानुरूप भोजन तथा निवास-स्थान आदि की व्यवस्था हो जाना था।

एक दिन एक धर्मशाला में व्याख्यान देना तै हुआ। देखता क्या हूँ, गाँव के राजपूत चौपाल में अपनी-अपनी चारपायी बिछा कर लेटे हुए हैं और मुझे कह रहे हैं—"पण्डित जी व्याख्यान दीजिये।" मेरी प्रत्युत्पन्नमति की परीक्षा थी। गुस्सा होना, चिढ़ना, कभी भी अच्छा नहीं और ऐसे समय गुस्से होने का मतलब तो बुद्धि का दिवालियापन ही स्वीकार करना होता है। मैंने एक आदमी से कहा—"एक चारपायी चाहिये।"

बोले—"क्या होगा।"

"शास्त्रों में लिखा है कि यदि व्याख्यान सुनने वाले चारपाइयों पर लेटे हों तो व्याख्याता को भी चारपाई पर लेट कर ही व्याख्यान देना चाहिये।"

लोग समझ गये। सबने अपनी-अपनी चारपाइयाँ छोड़ दीं। उतर कर जमीन पर बैठ गये। तब पण्डित जी ने अपना व्याख्यान दिया।

× × ×

और चार-पाँच वर्ष बाद। यह अनुभव एक अच्छी तरह से तैयार किये गये व्याख्यान का है। सिंहल में धर्मोपदेश की प्रथा इतनी संगठित और सुव्यवस्थित है कि क्या कहना! अच्छे व्याख्याताओं का यह प्रायः रोज का ही अनुभव है कि एक या एक से अधिक गृहस्थ, जिन्हें दायक (दाता) कहा जाता है, हाथ में पान-सुपारी और तम्बाखू का पत्ता—कभी-कभी तीनों में से कोई दो अथवा एक ही चीज लिये आ रहा है। श्रद्धा भाव से प्रणाम करके, कोने में लिपटी हुई चटाई बिछाकर उस पर बैठ गया है। भिक्षु के लिए हाथ में जो पान-सुपारी लिये है वह इस बात की सूचना है कि वह कोई निमन्त्रण देने आया है। यदि भिक्षु ने पान-सुपारी स्वीकृत कर ली तो फिर उसका निमन्त्रण स्वीकार करना भी एक प्रकार से भिक्षु का धर्म हो जाता है। इसलिए अनेक बार भिक्षु पान-सुपारी स्वीकार करने से पहले ही पूछ लेते हैं और यदि वह देखते हैं कि किसी कारण वह निमन्त्रण स्वीकार न कर सकेंगे तो फिर वे पान-सुपारी भी स्वीकार नहीं करते। दाता का यह निमन्त्रण श्राद्ध (मृतक-भात) का भी हो सकता है, पाठ (परित्राण-धर्मदेशना) का भी हो सकता है। किन्तु यहाँ तो धर्मोपदेश अथवा व्याख्यान के निमन्त्रण की ही बात लिखी जा रही है। तिथि और व्याख्यान का समय ही नहीं, दरवाजे पर मोटर-गाड़ी के आने का समय भी तै रहता है। रात को साढ़े आठ बजे से व्याख्यान तै है तो स्थान की दूरी के

हिसाब से घण्टा-आध घण्टा पहले मोटर गाड़ी आ जायेगी। सभा स्थल पर पहुँचते ही श्रद्धालु जनता धर्मोपदेश सुनने के लिए तैयार मिलेगी। ठीक समय पर धर्मोपदेश आरम्भ होकर प्रायः एक घंटा होगा। उसके बाद कुछ वस्त्र अथवा कुछ पुस्तकें अथवा अन्य कोई उपयोगी चीज उपस्थित लोगों की ओर से धर्म-पूजा के रूप में व्याख्याता को भेंट दी जायेगी। यह धर्म-पूजा यदि एक व्यक्ति की ओर से भी दी जाती है, तो भी प्रत्येक उपस्थित बाल-वृद्ध को उसे हाथ लगाना ही होता है, जिससे वह भी दाता के पुण्य में हिस्सेदार बने। दाता को अपने पुण्य का लाभ प्रत्येक धनी-निर्धन के साथ बाँट कर ही ग्रहण करना होता है।

मैं जिस दिन की बात कहने जा रहा हूँ, उस दिन मेरे साथ अच्छा खासा मज़ाक हुआ। व्याख्यान के दिन से कई दिन पहले उपरोक्त पद्धति के अनुसार मुझे निमन्त्रण मिला। सोचा—यूँ ही जो मुँह में आये बोलना अच्छा नहीं। पहले से तैयारी कर लेनी चाहिये। 'भारत से बौद्ध-धर्म क्यों और कैसे लोप हुआ ?'—विषय पर व्याख्यान देना तै किया। तीन-चार दिन कई पुस्तकों के पन्ने उलट कर नोट लिये और अपने दिमाग को ऐतिहासिक तिथियों और स्थानों के नामों से भर लिया। निश्चित दिन और समय पर मोटर आई और जहाँ व्याख्यान देना था, चली। किन्तु, क्या ? रास्ते में ही खराब हो गई। ठीक करते-कराते आधा-पौन घण्टा लग गया। पहुँचे तो व्याख्यान का समय हो गया था। मुझे सीधा ही सभा-स्थल पर ले जाया गया और व्याख्यान देने के लिये कहा गया। देखता क्या हूँ, सारा सभा-स्थल देवियों ही देवियों से भरा पड़ा है और अधिकांश वृद्ध मातायें। सभी धर्मों का शायद सब से मजबूत खम्बा वे ही हैं। अब जिन्हें, मेरी जानकारी के अनुसार, यह भी पता नहीं कि भारत लंका के उत्तर में है, अथवा पश्चिम में और जम्बू द्वीप के पृथक् भारत नाम का कोई देश भी है अथवा नहीं या जम्बू द्वीप को ही आजकल के लोग भारत कहते

थे, उन्हें मैं अब क्या व्याख्यान दूँ कि भारत से कब, क्यों और कैसे बौद्ध-धर्म का लोप हो गया। सच कहता हूँ उस दिन उन माँ-बहनों के अज्ञान ने मेरे सारे ज्ञान की सिट्टी-पिट्टी भुला दी। मेरी समझ में ही नहीं आता था कि क्या बोलूँ और क्या न बोलूँ? व्याख्यान आरम्भ करना था सो आरम्भ किया। भाग्य की बात इतनी थी कि मैं एक भाषा में बोलता था और दूसरी भाषा में उसका अनुवाद होता था। बीच-बीच में मुझे सोचने का मौका मिल गया और मैंने कुछ जातक कथायें आदि सुनाकर उस व्याख्यान से अपना पिण्ड छुड़ाया।

व्याख्यान के बारे में पूर्व-संकल्पों से बँध जाना भी एक मुसीबत है।

× × ×

१९३२ में बौद्ध धर्म प्रचारार्थ जब मैं इंगलैंड गया तो बीस महीनों में दो सौ व्याख्यान तो दिये ही होंगे किन्तु एक ही व्याख्यान की विशेष याद है। 'फैलोशिप आफ फेथ'—मतों की मित्रता—नामक संस्था की ओर से एक व्याख्यान देने का निमन्त्रण था—मुझे ही नहीं छः-सात अन्य मतों के प्रतिनिधियों को भी। सभी से केवल बारह मिनट बोलने की आशा की गई थी और एक विषय पर। विषय था—'आदमी भय पर किस प्रकार विजय पा सकता है?' निमन्त्रित व्याख्याताओं में मैं ही आयु, अनुभव और शायद योग्यता में भी सबसे कम था। इसलिए सोचा तैयारी करके ही बोलना होगा। सारा व्याख्यान लिख डाला। अनेक बार पढ़ डाला। फिर उसे छोटे-छोटे ताश के पत्तों के से कार्डों पर लिख डाला और उन्हें हाथ में छिपाये रखकर पठन का इतना अधिक अभ्यास कर लिया कि मुझे सारा व्याख्यान लगभग कंठ था। किन्तु कंठस्थ व्याख्यानों जैसा खराब कोई व्याख्यान नहीं होता। अब मेरी सारी चतुराई, सारी कला इसी बात में थी कि मैं उस कंठस्थ व्याख्यान को इस तरह अदा करूँ कि सुनने वालों को यह लगे कि बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ उसी समय सोच-सोच कर बोला जा

रहा है। मेरा वह नाटक सफल रहा और मैं सर्व सम्मति से उस दिन का सबसे अच्छा व्याख्याता घोषित किया गया। कुछ दिन के बाद उसी व्याख्यान के प्रताप से धर्म प्रचारार्थ जाने के लिए एक निमन्त्रण आया।

व्याख्यान की तैयारी का तो इससे महत्व सिद्ध होता ही है, किन्तु मैं सोचता हूँ कि जब अस्वाभाविकता का नाटक इतना प्रभावोत्पादक हो सकता है तो जो वास्तव में स्वाभाविक होगा वह कितना प्रभावोत्पादक होगा। हाँ, यह दूसरी बात है कि स्वाभाविक भी प्रभावोत्पादक की चिन्ता और इच्छा से होना चाहिये, अन्यथा वह स्वाभाविक ही नहीं होता।

× × ×

यह सब सही है किन्तु सभी धर्मों के अधिकांश धर्मप्रचारक तो ग्रामोफोन रेकार्डों से अधिक कुछ नहीं हैं। इँगलैंड में एक से अधिक व्याख्याताओं को देखा है। आपको जिस समय उनके व्याख्यानों की आवश्यकता हो आप पन्द्रह मिनट या आध घण्टा पहले उन्हें फोन कर दे सकते हैं। वे टैक्सी में बैठकर तुरन्त आपके यहाँ पहुँच जायेंगे। उनके व्याख्यानों की सूची प्रकाशित है और ज्ञात है। आप जिस किसी विषय पर उनका व्याख्यान चाहें चुनाव करके पहले से बता दें। वह अपना व्याख्यान लिये चले आयेंगे और आपको तोते की तरह रटा हुआ वह सारा व्याख्यान दे जायेंगे।

बहुत दिन पहले मैं काँगड़े जिले (पूर्वी पंजाब) में रहता था। वहाँ आर्य समाज के एक पुरोहित जी आए। पूछा "पुरोहित जी! आप यहाँ कितने दिन रहेंगे?" बड़ी ही सरलता से उत्तर दिया..."हमें आठ व्याख्यान याद हैं। यदि यहाँ के आर्य-समाजियों ने रोज-रोज एक नया व्याख्यान माँगा तब तो हम अधिक दिन नहीं रह सकते, यदि रोज-रोज नया व्याख्यान न माँगा तब कुछ दिन पड़े ही रहेंगे।"

इसी तरह की सिंहल के एक धर्मोपदेशक भिक्षु की कथा है, किन्तु

उस से तो सचमुच बड़ी सहानुभूति होती है। कोलम्ब, गाल, माअर अरिड, लंका के बड़े-बड़े शहरों में जिस प्रकार नियमित समय पर आरम्भ और समाप्त होने वाले एक-एक घण्टे के व्याख्यान होते हैं, वैसे देश के भीतरी पहाड़ी भू-भाग में नहीं। पाँच-सात मील दूर अपने घर से आदमी धर्मोपदेश सुनने आये और केवल एक घंटा ही उपदेश सुने! रात को लौटकर जाय तो कहाँ जाय? इस लिए वहाँ की प्रथा यही है कि रात-भर उपदेश होते रहना चाहिए और श्रोताओं को उसे जागते-सोते सुनते रहना चाहिये। अभ्यस्त धर्मोपदेशक बीच-बीच में पान खाते हुये बड़े आराम से रात-भर उपदेश देते हैं।

एक बार किस्मत के मारे शहरी धर्मोपदेशक भिक्षु ने वहाँ का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। घंटा-भर धर्मोपदेश दे चुकने के बाद उसने श्रद्धालु उपासकों से पूछा......"क्यों उपासको! अब तो पर्याप्त हो गया न?"

"नहीं भन्ते! अभी क्या! उपदेश दें।"

वहाँ प्रातःकाल मुर्गा बोलने तक धर्मोपदेश देना होता था। भिक्षु ने घंटा-भर उपदेश देने के बाद फिर पूछा—

"क्यों उपासको! अब तो पर्याप्त हो गया न?"

"भन्ते! अभी मुर्गा कहाँ बोला है।"

एक-एक घंटे पर विराम और विश्राम लेकर भिक्षु ने बड़ी मुसीबत से धर्मोपदेश जारी रखा। किन्तु जब भी वह पूछता कि उपासको! अब तो समाप्त करें! उसे एक ही उत्तर मिलता 'अभी मुर्गा कहाँ बोला है!'

अन्त में बिचारा हैरान हो गया। धर्मासन से उत्तर आया.........
"वह मुर्गा तो अब मेरे मरने पर ही बोलेगा!"

× × ×

सचमुच व्याख्यान देना एक मुसीबत है। इच्छा हो या न हो, किन्तु यदि पहले से वचन दे दिया है तो इच्छा-अनिच्छा-पूर्वक कुछ-न-

कुछ कहना ही होगा। वैसे ही स्थान की पाबन्दी। मुझे ही एक बार एक खासे बड़े कस्बे में बौद्ध-दर्शन पर कुछ कहने के लिए एक चौरस्ते पर खड़ा कर दिया मानों मुझे सिगरेटों के इश्तहार बाँटने हों। विषय की पाबन्दी भी पाबन्दी है। श्रोताओं की भी वैसी ही।

आदमी जो कुछ दिन-रात में बोलता है, उसके वास्तविक व्याख्यान तो वे ही हैं। किन्तु उन्हें कोई महत्व ही नहीं देता। लोग प्लेट-फार्म पर दिये गये व्याख्यानों को ही व्याख्यान समझते हैं।

यदि आदमी सामान्य व्यवहार में आने वाली अपनी २४ घंटे की वाणी को संयत और शुद्ध रख सके तो समाज को इन व्याख्यानों की एकदम आवश्यकता न रहे।

अब भी अधिकांश में ये फेफड़ों के निरर्थक व्यायाम ही हैं।

११

ये मरणान्त व्रत

अभी बहुत दिन नहीं हुए किसी समाचार पत्र के एक कोने में समाचार पढ़ा था कि पूर्वी पंजाब के कोई सज्जन—शायद श्री प्रबोध चन्द्र—वहाँ के कांग्रेसियों में मेल-मिलाप कराने की दृष्टि से मरणान्त-व्रत रखने जा रहे हैं। फिर उन सज्जन के बारे में कुछ पढ़ने को नहीं मिला। पता नहीं वह व्रत आरम्भ हुआ या नहीं? अथवा आरम्भ हो कर फल्गू नदी की तरह थोड़ी ही दूर जा कर सूख गया अथवा व्रत तो आरम्भ हुआ किन्तु वे सज्जन पहले से विशेष प्रसिद्ध-व्यक्ति न होने के कारण उनके व्रत को समाचारपत्रों ने विशेष स्थान ही नहीं दिया।

अधिक दिन नहीं हुए हरदा (जिला होशंगाबाद) के महेशदत्त जी ने भी कुछ-कुछ ऐसे ही उद्देश्य से एक लम्बा व्रत रखा था। उसकी समाप्ति की अवधि पहले से ही निश्चित थी। अपने व्रत के सम्बन्ध में उन का जो वक्तव्य छपा था उस का कोई एक निश्चित उद्देश्य न हो कर कई उद्देश्य थे। किन्तु उन सब उद्देश्यों का इतना ही सार था कि वे कांग्रेस-संगठन को अधिक दृढ़, अधिक पवित्र, अधिक अनुशासित, अधिक सुमति-पथगामी देखना चाहते थे। महेशदत्त जी का वह व्रत नेताओं के—विशेषकर राजेन्द्र बाबू के—आग्रह के कारण अपनी पूरी अवधि की सीमा तक न पहुँच सका।

उक्त दोनों व्रत समाज-सेवा के ही उद्देश्य से रखे गए कहे जायँगे।

अभी-अभी वर्धा के प्रोफेसर भंसाली का व्रत समाप्त हुआ है। उन के व्रत का उद्देश्य कुछ-कुछ वैसा ही था जैसे उद्देश्य के लिए पहले भी वह एक लम्बा व्रत रख चुके हैं। उस बार उन्होंने चिमूर और आष्टी में ब्रिटिश-साम्राज्य की पुलिस और फौज द्वारा स्त्रियों पर जो अनाचार और अत्याचार हुए थे, उनके विरुद्ध व्रत रखा था। यह व्रत हैदराबाद के रजाकारों ने वहाँ अपनी रियासत में जो जुल्म ढा रखा है, उस के विरुद्ध था। पहला व्रत साठ से भी अधिक दिन चल कर प्रो० भंसाली को एकदम क्षीण-काय बना कर छोड़ गया। सरकार के यह स्वीकार कर लेने पर कि प्रो० भंसाली चिमूर और आष्टी गाँव में जा सकेंगे तब वह तोड़ दिया गया। यह उनकी बड़ी "आध्यात्मिक विजय" समझी गई थी।

यह दूसरा व्रत पहले की अपेक्षा बहुत कम दिनों में ही समाप्त हो गया है।

सचमुच प्रो० भंसाली के व्रत मनुष्य के शरीर के सम्बन्ध में, सामान्य आदमी की सामान्य धारणाओं को बड़ा धक्का पहुँचाते हैं। मैं इस बार उनके व्रत के पाँचवें या छठे दिन जब उन्हें देखने गया तो वे अपने स्थान पर नहीं मिले। पता लगा कि बजाज बाड़ी स्थित अपनी 'भंसाली कुटीर' से पैदल चल कर वह चार-पाँच मील की दूरी पर सेवा ग्राम गए हैं और दोपहर तक वापिस लौट आने वाले हैं। यह प्रो० भंसाली के व्रत का पाँचवाँ या छठा दिन था, तब तक उन्होंने पानी भी नहीं पिया था।

प्रो० कोसम्बी जी ने तो अपना शरीरान्त कर ही दिया। इधर जितने 'मरणान्त व्रत' रखे गए उनमें राजनीतिक उद्देश्य से जेलों में रखे गए व्रतों को यदि बाद कर दिया जाय तो कोसम्बी जी का ही यह एक व्रत ऐसा था जो अपनी सीमा की अन्तिम-रेखा पर पहुँच कर ही समाप्त हुआ—प्रो० कोसम्बी जी अब इस संसार में नहीं रहे। व्यक्ति-

गत-सम्बन्ध होने से उनका चित्र और चरित्र सदा आँखों के सामने नाचता रहता है।

और इन सब के ऊपर तथा मूल में रहे हैं पूज्य बापू के अनेक व्रत और महाव्रत जिनकी यथार्थ संख्या सहसा स्मृति से लिखी भी नहीं जा सकती।

जिस क्रम से ऊपर इन व्रतों का उल्लेख हुआ है अब हम उससे कुछ दूसरे क्रम से उन पर विचार करें। इन व्रतों को मैं दो श्रेणियों में बाँट ले रहा हूँ—(१) आशायुक्त व्रत (२) निराशा-जनित व्रत।

गांधी के जितने व्रत हुए हैं उनका उद्देश्य प्रायः शुद्धि ही रहा है—! आत्म शुद्धि हो चाहे पर शुद्धि हो। पर शुद्धि को आप समाज-सुधार भी कह सकते हैं। किसी लड़के ने गांधी जी से झूठ बोल दिया। गांधी जी ने उस लड़के से भी बढ़ कर अपने को दोषी समझा। अपनी 'आत्म-शुद्धि' के ख्याल से, उसे तथा अन्य लोगों को प्रभावित करने और लोगों के प्रभावित हो सकने की आशा से व्रत रखा।

साधक के हर प्रयत्न को नमस्कार है। साधना-पथ पर चलने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसका हर पैर सीधा ही पड़े। यदि उन का हर चरण सीधा ही पड़ता है तब तो वह साधक न हो कर, सिद्ध-पुरुष हो गया; और मैं बहुधा साधक को सिद्ध-पुरुष से बढ़ कर मानता हूँ। बिना साधक हुए कोई सिद्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से गांधी जी के हर व्रत को, हर प्रयत्न को और उन्हीं के क्या, सभी साधकों के हर प्रयत्न को नमस्कार करते हुए भी मैं समझता हूँ कि गांधी जी के व्रतों के मूल में जो परम्परागत 'आध्यात्मिक-आस्था' रही है, वह स्वयं निराधार है। पातञ्जल-योग सूत्रों में कहा गया है कि "अहिंसा में प्रतिष्ठित पुरुष के प्रभाव से उसके आस पास के सभी लोक निर्वैर हो जाते हैं।"

प्रभावित हो सकने वालों पर प्रभाव पड़ता ही है, उनके अपने प्रभावित हो सकने की कम या अधिक सामर्थ्य के अनुसार और पड़ता

है अहिंसा-वृत्ति तथा हिंसा-वृत्ति दोनों का; किन्तु यह स्वीकार करना कि सभी निर्वैर हो जाते हैं और हो ही जाते हैं अपने दिन-रात के अनुभव के एकदम प्रतिकूल जाना है। नाथूराम गोडसे द्वारा गांधी जी का ही निधन हमारी बात का एक अत्यन्त दुःखद प्रमाण माना जा सकता है।

ऐसे 'प्रमाणों' का जो उत्तर दिया जाता है दिया जा सकता है, वह हमें ज्ञात है। प्रायः यही कहा जाता है कि जहाँ वैर का त्याग न हो वहाँ 'अपने अहिंसा में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न होने को' ही इसका कारण मानना चाहिए। अब पता नहीं इस 'पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित' होने का कौन-सा मापदण्ड स्वीकार किया जाय? "अहिंसा में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित होने से सभी निर्वैर हो जाते हैं" और जिससे सभी निर्वैर हो जायें वही "पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित होना है।" जब इस प्रकार किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय, तब कौन है जो उसे असिद्ध कर सके।

अहिंसा और हिंसा दोनों ही दो वृत्तियाँ हैं। हिंसा के अभाव का ही नाम अहिंसा नहीं है। हिंसा-द्वेष-वृत्ति है और अहिंसा-मैत्रवृत्ति। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों ही वृत्तियाँ एक दूसरे से अधिक प्रबल हैं, और यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि अहिंसा-वृत्ति ही हिंसा-वृत्ति की अपेक्षा प्रबल है तो भी यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उसकी भी एक सीमा है। यह आवश्यक नहीं कि हर समय, हर स्थान पर, हर व्यक्ति के साथ अहिंसा ही हिंसा पर विजय प्राप्त करे।

यह मानना कि 'अहिंसा' की विजय चाहे हो चाहे न हो, मैत्री-मूलक अहिंसा, द्वेष-मूलक हिंसा से अच्छी है, एक बात है; और यह मानना कि अहिंसा की ही विजय होती है, बिलकुल दूसरी। इतिहास हमें अहिंसा तथा हिंसा दोनों की विजय की जितनी चाहें उतनी कहानियाँ सुना सकता है।

भगवान बुद्ध ने और तो क्या अपने सभी शिष्यों तक से यह आशा

नहीं की वे उनकी सभी बातें मानेंगे। एक बार किसी ने पूछ ही तो लिया:—

"श्रमण गौतम! क्या आपके सभी शिष्य आपके कहने के अनुसार चलते हैं?"

"कुछ चलते हैं, कुछ नहीं चलते।"

"यह कैसी बात है कि आपके सभी शिष्य भी आपके कहने के अनुसार नहीं चलते।"

"तथागत का काम है रास्ता दिखा देना, कोई चलता है कोई नहीं भी चलता।"

अत्यन्त आग्रह के साथ अपनी बुराई किसी पर लादना तो बुरी बात है ही, परन्तु अपनी अच्छाई भी लादना कोई बहुत अच्छी बात नहीं है। दोनों में व्यक्ति के व्यक्तित्व का नाश या ह्रास होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हर बुराई-भलाई से बढ़कर है।

यदि कोई समझे या कहे कि अमुक व्यक्ति 'मेरी' अच्छाई के कारण अच्छा है, तो हम उस व्यक्ति को बड़ा ही 'अहंकारी' समझेंगे किन्तु यदि कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति ने जो पाप कर्म किया है, वह 'मेरी' ही बुराई के कारण किया है, तो हम ऐसा कहने वाले को बहुत अच्छा समझते हैं, 'महात्मा' तक समझ बैठते हैं। हम थोड़ी देर के लिए भी यह नहीं सोचते कि दोनों 'अहंकार' के ही दो भिन्न रूप हो सकते हैं। मुझे धम्मपद की ये पंक्तियाँ बहुत ही मार्मिक लगती हैं—

अत्तनाव कतं पापं अत्तना संकिलिस्सती
अत्तना कतं पापं अत्तनाव विसुज्झति
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं न अञ्ञो अञ्ञ विसोधये।

[अपने किये पाप कर्म से आदमी अपने अपवित्र होता है, अपने अकृत पाप से आदमी अपने पवित्र होता है। शुद्धि-अशुद्धि अपनी बात है—एक आदमी दूसरे को शुद्ध नहीं करता।]

यूँ एक सीमा के भीतर यह बात ठीक ही है कि एक-दूसरे के आच-

रण का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और इस अर्थ में हम सभी परस्पर एक-दूसरे के आचरण के लिए जिम्मेदार हैं। किन्तु, इस तरह तो आप में सभी के पाप-पुण्य एक दूसरे से कट जाते हैं।

इसलिए 'आग्रह', भले ही वह सत्याग्रही का आग्रह हो, कोई बहुत अच्छी बात नहीं। आखिर हम उसी 'सत्य' का तो आग्रह कर सकते हैं, जिसे हम 'सत्य' समझते हैं। यदि हमारी समझ में ही गलती हुई तो हमारे आग्रह का क्या परिणाम होगा? इसलिए सत्याग्रही के लिए भी क्या यह अच्छा नहीं कि वह व्रत आदि के दबाव से अपना 'सत्य' किसी पर लादने की अपेक्षा उसे अत्यन्त अनाग्रही-वृत्ति से अपना 'सत्य'—जो अपने को सत्य प्रतीत हो—वह निवेदन कर दे—और इस से आगे की जिम्मेदारी—उसे स्वीकार करने अथवा न करने की जिम्मेदारी—दूसरों पर छोड़ दे।

'आत्म-शुद्धि' अथवा 'समाज-सुधार' के उद्देश्य से किये जाने वाले व्रतों से सर्वथा भिन्न कोटि के वे 'व्रत' हैं जिन्हें हम निराशा-जन्य व्रत कहते हैं। प्रो० कौसम्बी का आमरण व्रत और प्रो० भंसाली का यह दूसरा व्रत निराशा-जन्य व्रतों के उदाहरण हैं। कौसम्बी जी बौद्ध विद्वान थे। कोरे-पुस्तक पंडित नहीं, विचारक भी। शरीर रोग से हैरान हो कर उन्होंने शरीर त्याग का निश्चय किया और धीरे-धीरे आहार कम कर शरीर-त्याग कर के ही चैन ली। भावी जीवन की ओर से इतनी विकट निराशा उचित थी या नहीं, किन्तु वह निराशा ही थी—जीवन की मृत्यु के आगे हार।

प्रो० भंसाली के बारे में सुना है कि उन्हें जब व्रत से विरत रखने का प्रयत्न किया जा रहा था इधर प्रो० भंसाली ने फिर व्रत आरम्भ कर दिया है। उनके अन्न-जल-रहित व्रत के तेरहवें दिन तो उनका कहना था कि ऐसे संसार में जी कर मैं क्या करूंगा? जिसमें स्त्रियों तक पर ऐसे अत्याचार हो रहे हों, जैसे हैदराबाद के रजाकारों द्वारा।

प्रो० कोसम्बी जी की तरह प्रो० भंसाली अपने से निराश नहीं हुए किन्तु 'समाज' से निराश हो गये।

प्राणों का मोह सब से बढ़ कर मोह है। और जब कोई उस मोह के सिर पर पैर रख कर दो डग भी आगे बढ़ता है तो पृथ्वी डोलने लग जाती है। इसलिए हम प्रो० भंसाली के व्रत के बारे में जो कुछ लिख रहे हैं वह उनकी 'मानवता' से प्रभावित हो कर ही। हैदराबाद में जो क्रूरता, जो ज़िल्लत, व्याप रही है उससे तड़प कर जो 'व्यक्तित्व' अपने प्राणों से खेल खेलना आरम्भ कर देता है उसके 'महामानव' होने में क्या सन्देह? विचारणीय प्रश्न यही है कि क्या व्रत सोती हुई 'मानवता' को जगाने के लिए एक ज़ोरदार प्रोटैस्ट रहा है—वैसा ही जैसे जेल में पड़े रहने पर राजनीतिक कैदियों के व्रत होते हैं, अथवा वह इस अत्याचारपूर्ण संसार को छोड़ कर चल देने की वैराग्यपूर्ण इच्छामात्र।

भिक्षु संघ में—बुद्ध के समय में ही—एक नाई भी प्रव्रजित हो गया था। जब भिक्षुओं ने संसार के दुःखमय होने की बात सुनी तो उनमें से कुछ उस नाई के पास गये और उसकी तथा उसके उस्तरे की सहायता से अपना अपना गला कटवा कर संसार से यथार्शीघ्र 'मुक्त' लाभ करने लगे। भगवान को जब पता लगा तो उन्होंने उन मूर्खों की बहुत निन्दा की। संसार दुःखमय है सही, किन्तु उससे मुक्त होने का उपाय आत्महत्या थोड़े ही है, दुःख से मुक्त होने का उपाय है, आर्य जीवन, श्रेष्ठ जीवन।

अन्यथा कठिन प्रश्न से घबरा कर यदि स्लेट ही फोड़ डाली गयी तो जीवन रूपी समस्या का हल कहाँ और कैसे हो सकेगा?

पूज्य बापू के व्रतों, प्रो० कोसम्बी तथा प्रो० भंसाली के व्रतों की कोटि से सर्वथा भिन्न कोटि के एक और प्रकार के भी व्रत हैं—जैसे रामचन्द्र शर्मा 'वीर' के व्रत।

वे भी कोई चर्चा के विषय हैं!

१२

भिक्षु उत्तम

जब भी मैं कभी बर्मा का कोई समाचार सुनता हूँ तो मुझे उनकी याद आ जाती है, जिन्हें हम सब भूल गये प्रतीत होते हैं।

सन् १९२७ की मद्रास-कांग्रेस में ही शायद मैंने उन्हें सबसे पहले देखा था। मैं सिंहल के रास्ते पर जैसे-तैसे मद्रास पहुँचा था। राहुल जी ने मथुरा बाबू (राजेन्द्र बाबू के निजी मन्त्री) को लिख दिया था कि वह मुझे मद्रास पहुँचने पर सिंहल तक का किराया दे दें या शायद किसी से दिला दें। मेरा हाथ खाली था और मैं इस चिन्ता में था कि जब लोग अपनी-अपनी बोलियाँ बोलकर उड़ जायंगे अर्थात् मद्रास-कांग्रेस समाप्त हो जायगी तो मैं कहाँ जाऊँगा?

क्योंकि मैं कुछ बौद्ध-भावना को लिये हुए सिंहल की ओर जा रहा था, इसलिए मुझे सूझा कि उस समय की कांग्रेस वर्किंग कमेटी या शायद केवल अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भिक्षु उत्तम से मिल लूँ। उनसे जब भेंट-मुलाकात हुई और उन्हें मेरी प्रवृत्ति मालूम हुई तो उन्होंने कहा कि चलो, मेरे साथ बर्मा चलो। मैं रास्ते के सब खर्च आदि की व्यवस्था कर दूँगा।

किन्तु मैं तो सिंहल जाने के लिए दृढ़-निश्चयी था। नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—नहीं भन्ते, मैं तो एक बार रामेश्वर पहुँच कर भारतमाता के चरणों में प्रणाम कर के ही आना चाहता हूँ।

उस समय तक उर्दू समाचार-पत्रों की कृपा से मैं उन्हें भिक्षु

ओटामा ही समझता था। और न जाने भिक्षु ओटामा और ओटावा-कान्फ्रेंस में कुछ बहुत भेद भी न कर पाता था!

दो-तीन वर्ष सिंहल रहकर भारतीय सत्याग्रह-संग्राम में हिस्सा लेने की इच्छा से जब मैं १९३० में बम्बई भाग आया, तो उस समय वे बम्बई के प्रसिद्ध बुद्ध-भक्त स्वर्गीय डा० नायर के यहां ठहरे हुए थे। मैं उनसे मिला। बहुत देर तक बातें कीं। बड़ी जली-कटी सुनने को मिली। उस दिन पहले-पहले मैं इस बात को समझ सका कि प्रकाश की आवश्यकता हो तो आग से नहीं घबराना चाहिए। भिक्षु उत्तम सचमुच कुछ इतने खरे थे, इतने आग थे कि सहज में उनके पास कोई ठहर ही न सकता था, किन्तु ऐसी आग कि समय आने पर वह दूसरों को पिघलाने का कारण बनने की बजाय स्वयं ही पिघल जाये।

बीच-बीच में भेंट हुई तो, किन्तु कानपुर-हिन्दूमहासभा की समाप्ति के बाद तो उन्होंने मुझे अपना अनुचर ही बना लिया; बोले—चलो साथ चलें। मेरी अपेक्षा कहीं ज्येष्ठ होने से उनका मुझ पर वही अधिकार था जो बड़े भाई का छोटे भाई पर; वह किसी से मेरा जिकर भी करते थे तो भाई आनन्द जी ही कहते थे। कानपुर-अधिवेशन की ही, उनकी कम से कम तीन बातें हृदय पर अंकित हैं:

अधिवेशन हो रहा था। कार्यसमिति में अथवा हिन्दूसभा में बुद्ध-गया का प्रश्न उपस्थित था। बौद्ध होने से उनकी स्वाभाविक सहानुभूति ही नहीं, उनका हृदय बौद्ध-माँग के साथ था, किन्तु हिन्दू-महासभा के अध्यक्ष की हैसियत से वे तटस्थ रहने के लिए मजबूर थे। बड़ी विषम परिस्थिति थी। तब उन्होंने एक कथा सुनाई। बोले—एक शेर था। वह प्रायः जानवरों को अपना मुंह सुंघाता और उनसे पूछता कि उसके मुंह से सुगन्ध आ रही है या दुर्गन्ध? कोई डर के मारे कह देता कि आपके मुंह से सुगन्ध आ रही है। शेर उसे डाँटता मैं दिन-भर जानवरों को मार-मार कर खाता रहता हूँ मेरे मुंह से सुगन्ध कैसे आ सकती है? और वह उसे खा जाता। कोई जान-

वर साफ-साफ कह देता कि आपके मुंह से दुर्गन्ध आ रही है, तब शेर गर्ज उठता—मैं जंगल का राजा, मेरे मुंह से दुर्गन्ध आ सकती है? वह उसे भी खा जाता। एक गीदड़ ने सोचा क्या किया जाय, दोनों तरह जान जाती है। शेर ने उससे भी पूछा—मेरे मुंह से सुगन्ध आ रही है अथवा दुर्गन्ध? गीदड़ बोला—हुजूर मुझे तो जुकाम हो रहा है। पता ही नहीं लगता कि आपके मुंह से सुगन्ध है अथवा दुर्गन्ध? सब लोग खिलखिला कर हंस पड़े। भाई परमानन्द, जो हिन्दूसभा के कार्याध्यक्ष थे, तो एकदम लोट-पोट हो गये। सभी भिक्षु उत्तम की इस चतुराई पर प्रसन्न थे कि उन्होंने अध्यक्ष की तटस्थता की रक्षा करते हुए अपना मत भी व्यक्त कर ही दिया।

मैं उनके साथ सारा उत्तर भारत घूमा। वे भाषाओं में व्याकरण-शुद्ध भाषा न बोलते थे, किन्तु ऐसा एक भी अवसर याद नहीं जब उनके प्रत्युत्पन्नमतित्व ने उनका साथ छोड़ा हो।

अधिवेशन समाप्त हुआ तो कानपुर के ही किसी एक बड़े औषधालय के मालिक उन्हें अपने यहाँ बुलाकर उनका स्वागत-सत्कार करना चाहते थे। मैंने देखा कि वह बराबर बच रहे हैं। एक बार बोले—हमें अपने यहाँ बुलाकर अपनी दवाइयों का ही विज्ञापन करेगा। अधिक आग्रह करने पर चले गये और वहाँ उनकी सम्मति-पुस्तक में बड़ी ही अन्यमनस्कता के साथ मुझे दो शब्द लिख देने का आदेश भी दे दिया।

बात तो छोटी सी ही है किन्तु भिक्षु उत्तम की विशेषता पर प्रकाश डालती है। उन्हें गांधी जी की ही तरह अपने संगी-साथियों का बड़ा ख्याल रहता था। उत्सव की समाप्ति पर जब उन्होंने अपने सभी साथियों के लिए सवारी की उचित व्यवस्था के बारे में अपना संतोष कर लिया तब ही वे मोटर में सवार हुए।

वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे, किन्तु ऐसे अध्यक्ष जो हिन्दू महा-सभा के कांग्रेस-विरोध के पक्के विरोधी। भिक्षु उत्तम अध्यक्ष और

भाई परमानन्द उपाध्यक्ष। अजब बेमेल जोड़ी थी। श्रीयुत जुगल-किशोर बिड़ला के विशेष प्रयत्न से ही वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष बने थे। किन्तु थोड़े ही दिनों में लोगों को पता लग गया कि यह टेढ़ी-मेढ़ी हिन्दी बोलने वाला बौद्ध साधु प्रायः हर बारे में अपनी स्पष्ट राय रखता है, और उसके धर्म को अथवा उसकी राजनीति को पचा जाना आसान नहीं।

दिल्ली में प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता ला० नारायणदत्त जी के यहाँ उतरे थे। एक दिन लाला जी ने कहा—देखिये भिक्षु जी इस चित्र में राम, कृष्ण और अन्य अवतारों के साथ बुद्ध का भी चित्र है। सोचा होगा भिक्षु जी बड़े प्रसन्न होंगे! बोले क्या ख़ाक है! एक योगी को कामभोगियों के साथ ले जा बिठाया है। ऐसी तीखी बात कह सकने वाले अपने सभापति को कोई क्या कहे? हिन्दू-बौद्ध एकता का प्रदर्शन करने के लिए जिसे अभी चार ही दिन हुए सभापति बनाया, उससे लड़ा भी नहीं जा सकता था!

भिक्षु उत्तम चाहते थे कि हिन्दू महासभा राजनीति में न पड़कर केवल समाज-सुधार का कार्य करे। राजनीति में वह कांग्रेस के साथ थे। जो हिन्दू महासभा को करना चाहिये था, वह या तो करती ही न थी, या उससे होता ही न था। इसलिए भिक्षु उत्तम उसे कभी-कभी बड़े आड़े हाथों लेते थे। रावलपिंडी की एक सभा में लोगों ने, जिनकी राजनीति केवल चुनाव लड़ने और मुसलमानों को गालियाँ देने अथवा उनकी शिकायतें करने में ही समाप्त हो जाती थी, भिक्षु उत्तम को चारों ओर से घेरा। जब भिक्षु उत्तम से न रहा गया तब उपस्थित लोगों को डाँटकर बोले—राजनीति-राजनीति करता है। छोड़ेगा सर-कारी रेल-तार, छोड़ेगा सरकारी डाकखाना। करेगा अंग्रेजी स्कूलों और कचहरियों का बायकाट। होता-जाता कुछ नहीं। राजनीति, राजनीति करता है! उनको वह डाँट मुझे अभी भी ज्यों-की-त्यों

सुनाई दे रही है। उसने रावलपिंडी के उन हिन्दू महासभाई नेताओं को एकबारगी ही ठंडा कर दिया।

अब हिंदू महासभा जिस बात को अपनाने की बात कर रही है, काश उसने अपने आरम्भ से ही उसे अपनाया होता। किन्तु सामाजिक क्रान्ति का कार्यक्रम किसी को भी अपील नहीं करता। न कांग्रेस ने ही उसे अपने हाथ में लिया और न हिन्दू महासभा ने ही।

लोगों को देखा है कि वे प्रायः दूसरों पर नीति-शास्त्र के नियमों को बड़ी कड़ाई से लादते हैं। किन्तु भिक्षु उत्तम अपने ही प्रति विशेष रूप से कड़े थे। दूसरा आदमी चाहे प्रायः कैसा भी हो, उसे निभा लेते। एक बार न जाने पंजाब में ही कहाँ से कहाँ की यात्रा की जा रही थी। रात के समय ड्योढ़े दर्जे में चढ़े : डिब्बे में जगह काफी थी। लोगों ने कहा कि आपका बिस्तर खोलकर बिछा दें। लेट जाइयेगा। बोले—नहीं हमने लेटने का टिकिट नहीं लिया है। वह सारी रात अपने बिस्तर के सहारे बैठे रहे। एक मिनिट भी बिस्तर बिछाकर लेटे नहीं।

वे नित्य कुछ पाली सूत्रों का पाठ किया करते थे। दिन में अगर व्याख्यानों का तांता लगा रहे तो कोई परवाह नहीं। शाम को यदि पाठ करने के लिए समय नहीं मिला है तो कोई चिन्ता नहीं। रात के बारह बजे के बाद तो रात अपनी है। मैंने उन्हें रात के एक और दो बजे पाठ करते देखा है; बिना पाठ किये सोते कभी नहीं देखा।

अपने प्रति तो इतने कड़े किन्तु दूसरों के प्रति? एक पंजाबी तरुण हमारे साथ चल रहे थे। दो-चार स्टेशन साथ रहने पर ही मुझे सन्देह हुआ कि वह खाने-पीने की चीज़ें खरीदने जाते हैं तो बीच में कुछ पैसे बना लेते हैं। मैंने महास्थविर का ध्यान आकर्षित किया। बोले—आखिर इतनी गर्मी में अपने पीछे-पीछे दौड़ता है। कोई वेतन तो पाता नहीं। कुछ-न-कुछ बनायेगा ही। बहुत नहीं बनाता। चुप रहो।

प्रायः हर देशाटन करने वाले को दो-चार भाषाओं से परिचय हो ही जाता है। भिक्षु उत्तम अपनी मातृ-भाषा बर्मी के अतिरिक्त, जापानी, बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी और दो-एक और भाषाएँ बोल लेते थे; किन्तु सभी टूटी-फूटी। अपने भाषणों में दो-एक अंग्रेजी वाक्यों के प्रयोग वे किया करते थे, जो व्याकरण की दृष्टि से प्रायः अशुद्ध होते और जो उनके समय के अंग्रेजी से अपरिचित अथवा अल्प-परिचित व्याख्याताओं की विशेषता थी। हिंदी-हिंदुस्तानी में वे निधड़क बोलते थे, मानों कोई सड़क कूटने वाला इंजन सड़क कूटता चला जा रहा हो!

भाषणों में हँसाते भी खूब थे और कभी-कभी तो विरोधी का ऐसा मजाक बनाते मानों कोई चार्ली चैपलन ही रंगमंच पर उतर आया हो!

उन्हें अपनी माता से बहुत सा रुपया मिला था। उनकी इच्छा थी कि वह सारा रुपया नागरी अक्षरों में पाली त्रिपिटक के मुद्रण पर खर्च हो जाय। कितने बड़े खेद की बात है कि भारत को अपने बुद्ध पर इतना गर्व है, और उचित गर्व है; किन्तु बुद्ध के जो मूल उपदेश पाली भाषा में सुरक्षित हैं, उन्हें यदि आप आज भी पढ़ना चाहें तो वे आपको देवनागरी अक्षरों में पढ़ने को न मिलेंगे? आप उन्हें रोमन अक्षरों में पढ़ सकते हैं, सिंहल अक्षरों में पढ़ सकते हैं, बर्मी अक्षरों में पढ़ सकते हैं, स्यामी अक्षरों में पढ़ सकते हैं, किन्तु बुद्ध की अपनी भूमि के आज के देवनागरी अक्षरों में नहीं पढ़ सकते। भिक्षु उत्तम की प्रेरणा से राहुल जी ने नागरी अक्षरों में त्रिपिटक-मुद्रण के कार्य को अपने हाथ में लिया। भिक्षु जगदीश कश्यप और इन पंक्तियों के लेखक ने भी उसमें सहयोग देना स्वीकार किया। खुद्दक पाठ के ग्यारह ग्रन्थ छपे भी, किन्तु राहुल जी के बहुधन्धीपन के कारण और हम लोगों के उस कार्य को अपने सिर न ओढ़ सकने के कारण वह

गाड़ी आगे न चल सकी। भिक्षु उत्तम की वह पुण्यमयी इच्छा मन ही मन रही।

उन्होंने बर्मा के सार्वजनिक जीवन को प्रायः हर तरह से उभारने का प्रयत्न किया था। जनता के प्रिय-भाजन होने के हिसाब से तो वे बर्मा के गांधी थे। चलते थे तो स्त्रियाँ अपने सिर के बाल उनके पैरों के नीचे बिखेर देती थीं; बड़े ही आदरणीय, बड़े ही स्पष्टवक्ता।

किन्तु, हाय री छलना राजनीति ! उनके अन्तिम दिन बड़े दुःख-मय बीते। बर्मा के दो राजनीतिक दलों में से एक का साथ उन्होंने जन्म-भर दिया। अंतिम दिनों में उसे छोड़कर दूसरे दल में शामिल हो गये। जिसे छोड़ दिया था वह दल जीत गया, जिसमें शामिल हुए वह दल हार गया। भिक्षु उत्तम कहीं के न रहे।

उनके अंतिम दिन विक्षिप्त शब्द के यथार्थ अर्थ में एक विक्षिप्त का जीवन था। अपनी चप्पल अपनी बगल में लिए लोगों ने उन्हें बर्मा की सड़कों पर फटेहाल घूमते देखा है !

किन्तु, जब उनका शरीरान्त हुआ बर्मी जाति ने उनके प्रति वही गौरव प्रदर्शित किया, जिसके वे अधिकारी थे।

बर्मा के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के साथ उनकी याद अमिट है।

१३

स्वातंत्र्य वीर ''दुष्टग्रामणी

१५ अगस्त के दिन हमें अपने देश के उन वीरों की गाथाओं की याद तो आनी चाहिये, जिनके नाना प्रकार के बलिदानों के फल-स्वरूप हमें अपने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, किन्तु साथ ही अन्य देशों के वीरों की गाथाएँ भी याद आनी चाहियें, और युग-युग के वीरों की।

सिंहल के 'शिवाजी' की वीर-गाथा इस प्रकार है''''''

"उस देवी ने समय पाकर स्वानाभधन्य उत्तम पुत्र को जन्म दिया। उस समय महाराज कुल में बहुत आनन्द हुआ ॥५९॥ उस बालक के पुण्यानुभव से उस दिन नाना प्रकार के रत्नों से भरी हुई सात नावें जहाँ तहाँ से आईं ॥६०॥

"पुत्र के मंगल नाम-करण के समय राजा ने बारह हजार भिक्षुओं को निमन्त्रण दिया, लेकिन दिल में सोचा—'यदि मेरे पुत्र को अखिल लंका द्वीप का राजा होना है, और राज्य प्राप्त कर सम्बुद्ध शासन को प्रकाशित करना है, तो मेरे पुत्र को गोतम नाम स्थविर ग्रहण करें और वही शरण शिक्षा देवे। वह सब वैसे ही हुआ। ॥६५—६९॥

"तमाम शकुनों को देखकर सन्तुष्ट-चित्त राजा ने संघ को पायस (खीर) दान दिया और पुत्र का नाम-करण संस्कार किया। महाग्राम का नायकत्व और पिता का नाम दोनों इकट्ठे करके ग्रामणी अभय नाम रखा गया। ॥७०—७१॥

"महाग्राम में प्रविष्ट हो राजा ने चौथे दिन देवी से सहवास किया।

उससे देवी को गर्भ स्थापित हुआ। समय पाकर पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने उसको तिस्स (= तिष्य) नाम दिया। बड़े परिजनों के बीच दोनों बालक बढ़ने लगे। ॥७२-७३॥

"अन्न-प्राशन संस्कार के समय दोनों पुत्रों के आदर-भाजन राजा और रानी ने पाँच सौ भिक्षुओं को पायस प्रदान कर उनके खाये भात में से थोड़ा भात सोने की थाली में लेकर 'हे पुत्रो! यदि तुम बुद्ध शासन को छोड़ो, तो तुम्हें यह भात न पचे' कह उन्हें वह भात दिया। उस कथन के अर्थ को समझ उन दोनों राजकुमारों ने वह पायस सन्तुष्ट-चित्त हो अमृत की तरह खा लिया॥ ७७॥

× × ×

"क्रम से दस और बारह वर्ष की आयु होने पर परीक्षा लेने के इच्छुक राजा ने पूर्व-वत् भिक्षुओं को भोजन खिलाकर उनका उच्छिष्ट भात थाली में मंगवाया, और उसे बालकों के समीप रखवाकर तीन हिस्सों में बंटवाया। और कहा—'अपने कुल-देवताओं और भिक्षुओं से कभी विमुख न होगे। और हम दोनों भाई सदैव एक दूसरे के प्रति द्वेष-रहित रहेंगे,' सोचकर यह दूसरा हिस्सा खाओ॥ ७८—८१॥

उन दोनों ने वह दोनों भाग अमृत के समान खा लिये।

'हम द्रविड़ों (द्मिळों) के साथ कभी युद्ध न करेंगे,' सोचकर यह तीसरा भाग खाओ कहने पर तिस्स ने हाथ से भोजन छोड़ दिया और ग्रामणी तो भात के कौर को फेंक कर शैय्या पर जा लेटा और वहाँ हाथ-पाँव सिकोड़ कर पड़ रहा॥ ८२—८३॥

विहार-देवी ग्रामणी के पास पहुँची और उसे शान्त करती हुई बोली—"पुत्र हाथ-पाँव पसार कर शयनासन (= पलंग) पर सुख से क्यों नहीं सोते?"

उसने उत्तर दिया—"गंगा पर द्रमिड हैं, और इधर गोठा—समुद्र है, मैं शरीर फैलाकर कहाँ सोऊँ !"

उस ग्रामणी के अभिप्राय को सुन कर राजा चुप हो गया ॥ ८७ ॥

× × ×

उस समय हाथी, घोड़ों और तलवार चलाने की विद्या में कुशल, सिद्ध-हस्त ग्रामणी राजकुमार महाग्राम में रहता था ॥ १ ॥

"राजा ने राजकुमार तिस्स (=तिष्य) को सेना और वाहनों से परिपूर्ण जनपद की रक्षा के लिए दीर्घवापी में रख दिया ॥ २ ॥"

समय पाकर अपनी शक्ति को देखते हुए कुमार ग्रामणी ने पिता को कहला भेजा—"हम द्रविड़ों से लड़ेंगे ॥ ६ ॥ पिता ने उसकी रक्षा के लिए 'गंगा को इस पार का देश पर्याप्त है' कहकर उसे रोका । उसने पिता को तीन बार यूं ही कहलाकर भेजा ॥ ४ ॥ चौथी बार उसने पिता के पास स्त्रियों का कोई गहना भिजवाया, और उसके साथ 'यदि मेरे पिता पुरुष होते तो ऐसा कभी न कहते, इसलिए यह स्त्रियों का आभरण पहनें' कहला भेजा ॥ ५ ॥ राजा ने उस पर क्रोधित होकर कहा—'एक सोने की हथकड़ी बनवाओ । इस हथकड़ी से उसे बांधूँगा; क्योंकि किसी और प्रकार उसकी रक्षा नहीं की जा सकती ।' पिता से नाराज हो ग्रामणी भागकर मलय प्रान्त को चला गया । पिता के प्रति इस दुष्टता के कारण ही उसका नाम 'दुष्ट ग्रामणी' हुआ ॥ ७ ॥

राजा दुष्ट-ग्रामणी को युद्ध के लिए आया सुनकर नरेश ने मंत्रियों बुलाकर कहा—"वह राजा स्वयं योधा है, और उसके पास योधा भी बहुत हैं । हे अमात्यो ! हमें क्या करना चाहिये; हमारे अमात्य क्या सोचते हैं ?"

एेलार नरेश के दीर्घजन्तु प्रभृति योधाओं ने "कल युद्ध करेंगे—" ऐसा निश्चय किया ॥ ३४ ॥ दुष्ट ग्रामणी राजा ने भी माता के साथ परामर्श करके उसके परामर्शानुसार बत्तीस सेना-व्यूह किये । राजा जैसी

छत्रधारी मूर्तियाँ प्रत्येक व्यूह में रखवा, राजा स्वयं अन्दर के व्यूह में ठहरा ॥ ५५—५६ ॥ योग्य सेना और वाहन सहित एैलार राजा तैयार हो महापर्वत नामक हाथी पर चढ़कर वहाँ आया ॥ ५७ ॥

संग्राम के समय, भयानक युद्ध करने वाले महा बलवान दीर्घजन्तू ने ढाल तलवार लेकर आकाश में अट्ठारह हाथ ऊँचा जा वह राजा रूपी मूर्ति तोड़ दी। पहला सेना-व्यूह तोड़ दिया ॥ ५८—५९ ॥ इसी प्रकार वह बलवान शेष सेना-व्यूह भी नष्ट कर राजा दुष्ट ग्रामणी के व्यूह पर आ पहुँचा ॥ ६० ॥ राजा के ऊपर आक्रमण करने आते हुए उस योधा को सुरनिमिल योधा ने अपना नाम सुना कर लल-कारा ॥ ६१ ॥ दूसरा (दीर्घजन्तू) 'उसको वध करूँ' सोच आकाश में कूदा। सुरनिमिलन ने उतरते हुए दीर्घजन्तू के आगे ढाल कर दी ॥ ६२ ॥ 'इसे ढाल सहित छेदूंगा' सोच दीर्घजन्तू ने खड्ग से ढाल पर प्रहार किया। दूसरे ने ढाल छोड़ दी। छुटी ढाल को काटता हुआ दीर्घजन्तू गिर पड़ा। सुरनिमिलन ने उठ कर शक्ति (शस्त्र) से उस गिरे हुए को मार डाला ॥ ६३ ॥ फिस्स देव ने शंख-ध्वनि की। दमिल सेना भंग हो गई। राजा एैलार भी लौटा। बहुत सारे दमिल मार डाले गये ॥ ६४ ॥ वहाँ वापी का जल मरे हुओं के जल से लाल हो गया। इसीलिये वह वापी कलरथ-वापी नाम से प्रसिद्ध हुई ॥ ६६ ॥

राजा दुष्ट ग्रामणी ने भेरी बजवा दी—मुझे छोड़कर अन्य कोई एैलार को नहीं मारेगा। फिर स्वयं सन्नद्ध हो, कुण्डल हाथी पर चढ़, राजा एैलार का पीछा करता हुआ (नगर के) दक्षिण द्वार पर आ पहुँचा ॥ ६७—६८ ॥ दक्षिण द्वार के सामने दोनों राजा लड़े। एैलार ने दुष्ट ग्रामणी पर तोमर फेंका। दुष्ट ग्रामणी ने उसे खाली जाने दिया। फिर अपने हाथी के दांतों से उस महापर्वत हाथी को लड़ाया और एैलार पर तोमर फेंका। एैलार हाथी सहित वहाँ खेत रहा ॥ ६९—७० ॥

रथ, सेना और वाहन के साथ राजा ने संग्राम जीत लिया। तमाम लंका को एक-छत्र कर नगर में प्रवेश किया। ॥ ७१ ॥ नगर में भेरी बजवाकर, चारों ओर से एक योजन तक के लोग एकत्र कराकर उसने ऐलार का सत्कार करवाया ॥ ७२ ॥ उसके गिरने के स्थान को कूटागार से ढकवाया। वहाँ चैत्य बनवाया और पूजा करवाई ॥ ७३ ॥

उसी पूजा के विचार से आज भी उस स्थान के समीप जाते समय लंका के नरेश बाजा नहीं बजवाते।

इस प्रकार दुष्ट ग्रामणी ने दमिल राजाओं को जीत लंका का एक-छत्र राज्य किया।

१४

व्यक्ति का पुनर्निर्माण

आज पुनर्निर्माण की चर्चा है व्यक्ति के नहीं, समाज के। अपने नहीं, दूसरों के। क्या व्यक्ति का पुनर्निर्माण एकदम उपेक्षा की चीज़ है?

यह सत्य है कि व्यक्ति समाज की उपज है, और यदि सारा समाज लूला-लंगड़ा रहे तो एक व्यक्ति भी सीधा नहीं ही खड़ा हो सकता। किन्तु फिर समाज भी तो व्यक्तियों का ही समूह है। यदि व्यक्ति, व्यक्ति की ओर ध्यान दे अथवा व्यक्ति अपनी ही ओर ध्यान न दे तो समाज भी आखिर कैसे सीधा खड़ा हो सकता है?

अंग्रेजी की प्रसिद्ध तुक-बन्दी है—

If every body looks to his own reformation, how very easy to form a nation.

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुधार की ओर ध्यान दे तो एक जाति का निर्माण कितना आसान है।

बौद्ध धर्म में सम्यक्-व्यायाम के चार अंग कहे गये हैं—

१. इस बात की सावधानी रखना कि अपने में कोई अवगुण आ न जाये।

२. इस बात का प्रयत्न कि अपने अवगुण दूर हो जायें।

३. इस बात की सावधानी रखना कि अपने सद्गुण चले न जायें।

४. इस बात का प्रयत्न करना कि अपने में नये सद्‌गुण चले आयें।

बाग में यदि अच्छे फल-फूल न लगवाये जायें और जमीन को यूँ ही बेकार पड़ा रहने दिया जाय तो उसमें बेकार के झाड़-झंकाड़ उग ही आयेंगे। यदि अवगुणों को दूर करने और सद्‌गुणों को लाने का उपाय निरन्तर नहीं किया जायगा तो अवगुण बने ही रहेंगे, और सद्‌गुण नहीं ही आ पायेंगे। इसलिये यदि इस चतुर्मुखी कार्यक्रम को घटाकर इसके केवल दो अंगों को स्वीकार कर लिया जाय तो भी मैं समझता हूँ भगवान बुद्ध का उद्देश्य पूरा हो सकता है:—

अवगुणों को दूर करना और सद्‌गुणों को अपनाना यह दोनों भी क्या अर्थ की दृष्टि से एक ही नहीं हैं? इस का उत्तर 'हाँ' और 'नहीं'—दोनों देना होगा।

एक आदमी को व्यर्थ बक-बक करने की आदत है। यदि वह अपनी आदत को छोड़ता है तो वह अपने व्यर्थ बोलने के अवगुण को छोड़ता है। किन्तु साथ ही और अनायास ही वह मित-भाषी होने के सद्‌गुण को अपनाता चला जाता है। यह तो हुआ 'हाँ' पक्ष का उत्तर। किन्तु एक दूसरे आदमी को सिग्रेट पीने का अभ्यास है। वह सिग्रेट पीना छोड़ता है, और उसकी बजाय दूध से प्रेम करना सीखता है। तो सिग्रेट पीना छोड़ना एक अवगुण को छोड़ना है, और दूध से प्रेम जोड़ना एक सद्‌गुण को अपनाना है। दोनों दो भिन्न वस्तुएँ हैं—पृथक्-पृथक्।

अवगुणों को दूर करने और सद्‌गुणों को अपनाने के प्रयत्न में, मैं समझता हूँ कि अवगुणों को दूर करने के प्रयत्नों की अपेक्षा सद्‌गुणों को अपनाने का ही महत्व अधिक है। किसी कमरे में गन्दी-हवा और स्वच्छ-वायु एक साथ रह ही नहीं सकती। कमरे में हवा रहे ही नहीं, यह तो हो ही नहीं सकता। गन्दी हवा को निकालने का सबसे अच्छा उपाय एक ही है—सभी दरवाजे और खिड़कियाँ खोलकर स्वच्छ-वायु को अन्दर आने देना।

अवगुणों को भगाने का सबसे अच्छा उपाय है, सद्गुणों को अपनाना।

ऐसी बातें पढ़-सुनकर हर आदमी यह कहता सुनाई देता है जो किसी समय बिचारे दुर्योधन के मुँह से निकली थीं :

'धर्म' जानता हूँ उसमें प्रवृत्ति नहीं।

'अधर्म' जानता हूँ उससे निवृत्ति नहीं।

एक आदमी को कोई कुटेव पड़ गई—सिग्रेट पीने की ही सही। अत्यधिक सिनेमा देखने की ही सही। बिचारा बहुत 'संकल्प' करता है, बहुत 'कसमें' खाता है, कि अब सिग्रेट न पीऊँगा, अब सिनेमा देखने न जाऊँगा, किन्तु समय आने पर जैसे आप ही आप उसके हाथ सिग्रेट तक पहुँच जाते हैं, और वह सिग्रेट उसके मुँह तक। बिचारे के पाँव सिनेमा की ओर जैसे आप ही आप बढ़े चले जाते हैं।

क्या 'सिग्रेट' न पीने का और 'सिनेमा' न देखने का उसका 'संकल्प' सच्चा नहीं? क्या उसने झूठी कसम खाई है? क्या उसके संकल्प की दृढ़ता में कमी है? नहीं, उसका 'संकल्प' तो उतना ही दृढ़ है जितना किसी का हो सकता है। तब उसे बार-बार असफलता क्यों होती है? होती है और बार-बार होती है।

इस 'असफलता' का कारण और 'सफलता' का रहस्य कदाचित् इस एक ही उदाहरण से समझ में आ जाय।

जमीन पर एक छः इंच, या एक फुट लम्बा, चौड़ा लकड़ी का तख्ता रखा है। यदि आप से उस पर चलने के लिये कहा जाय तो क्या आप चल सकेंगे? क्यों नहीं? बड़ी आसानी से। अब इसी तख्ते के एक सिरे को किसी मकान की छत पर रख दिया जाय, और शेष तख्ते को यूँ ही खुले आकाश में आगे बढ़ा दिया जाय और तब आपसे इसी तख्ते पर चलने के लिये कहा जाय तो क्या आप तब भी उस पर चल सकेंगे? 'डर लगेगा। नहीं चल सकेंगे।''

कोई पूछे क्यों? आप इसके अनेक कारण बताएँगे। सच्चा कारण

एक ही है। आप नहीं चल सकते, क्योंकि आप समझते हैं कि आप नहीं चल सकते।

यदि आप विश्वास कर लें कि आप चल सकते हैं, और उसी लकड़ी के तख्ते को थोड़ा-थोड़ा जमीन से ऊपर उठाते हुए उसी पर चलने का अभ्यास करें तो आप उस पर बड़े आराम से चल सकेंगे। सरकसवाले पतले-पतले तारों पर कैसे चल लेते हैं? वे विश्वास करते हैं कि वे चल सकते हैं, और तदनुसार अभ्यास करते हैं। वे चल ही लेते हैं।

यदि आप किसी अवगुण को दूर करना चाहते हैं तो उससे दूर-रहने के दृढ़ संकल्प करना छोड़िये, क्योंकि जब आप उससे दूर-दूर रहने की 'कसमें' खाते हैं, तब भी आप उसी का चिन्तन करते हैं। चोरी न करने का संकल्प भी चोरी का ही संकल्प है। पक्ष में न सही, विपक्ष में सही। है तो चोरी के ही बारे में। 'चोरी' न करने की इच्छा रखने वाले को 'चोरी' के सम्बन्ध में कोई संकल्प-विकल्प ही न करना चाहिये।

यदि हम अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने अवगुणों को बलवान न बनायें तो हमारे अवगुण अपनी मौत आप मर जायंगे।

हमें अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने सद्गुणों को बलवान बनाने की आवश्यकता है।

यदि आपकी प्रकृति 'चंचल' है—आप अपने 'गम्भीर-स्वरूप' की *'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'गम्भीर-स्वरूप' का* चित्र देखें। अचिरकाल में ही आपकी प्रकृति बदल जायगी।

यदि आपकी प्रकृति 'अस्वस्थ' है, आप अपने 'स्वस्थ-स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में 'स्वस्थ-स्वरूप' का चित्र देखें। अचिरकाल में ही आपकी प्रकृति बदल जायगी।

यदि आपकी प्रकृति 'अशान्त' है—आप अपने ही 'शांत स्वरूप' की 'भावना' करें। यथावकाश अपने मन में अपने 'शांत स्वरूप' का चित्र देखें। अचिरकाल में ही आपकी प्रकृति बदल जायगी।

शायद आपको 'गम्भीरता', 'स्वास्थ्य', 'शांति' की उतनी आवश्यकता ही नहीं, जितनी दूसरी लौकिक चीज़ों की।

उन चीज़ों की प्राप्ति में यह नियम निश्चयात्मक रूप से सहायक होगा, किन्तु निर्णायक नहीं।

संसार में प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से होता है। यदि दूसरे कारण एकदम प्रतिकूल में हों तो अकेली 'भावना' क्या करेगी? कोई तरुण अपना शरीर बलवान बनाना चाहता है। खाने-पीने के साधारण नियमों का खयाल नहीं करता, स्वच्छ वायु में नहीं सोता, व्यायाम नहीं करता, केवल 'भावना' के ही बल पर 'बलवान' होना चाहता है। यह असम्भव है।

'भावना' अपना काम करती है, किन्तु अकेली 'भावना' खाने-पीने, स्वच्छ-वायु और व्यायाम—सभी की जगह नहीं ले सकती।

जो 'बलवान' बनने की सच्ची 'भावना' करेगा वह अपने खाने-पीने, स्वच्छ वायु और व्यायाम की भी चिन्ता क्यों न करेगा?

इन अर्थों में 'भावना' को सर्वार्थ-साधिकार कहा जा सकता है।

सब भावनाओं में श्रेष्ठ भावना एक ही है, जिसे जैन, बौद्ध, हिन्दू—सभी ने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों में स्थान दिया है—

सभी के प्रति मैत्री,
गुणियों के प्रति प्रमुदता,
दुखियों के प्रति दया,
दुष्टों के प्रति उपेक्षा।

सचमुच इससे बढ़कर 'ब्रह्म-विहार' की कल्पना नहीं की जा सकती।

१५

रेल का टिकट

भला हो सिस्टर निवेदिता का। उसने कहीं लिखा है कि यदि देश की सेवा करनी हो तो पहले अपने देश का परिचय प्राप्त करो। उसके लिए आवश्यक है कि घर-घर घूमो, गाँव-गाँव घूमो, नगर-नगर घूमो, शहर-शहर घूमो। मैं नहीं कह सकता कि मुझसे अपने देश की कुछ सेवा बन पड़ी अथवा नहीं, किन्तु सिस्टर निवेदिता के उस कथन की कृपा से मैं घूमा खूब हूँ।

मेरे घूमने का उद्देश्य केवल देश-दर्शन था और साधनों के नाम पर एक प्रकार से 'शून्यवाद।' पैदल चलना और माँग खाना इन्हीं दो को मैं अपने उन दिनों के घुमक्कड़ी जीवन की आधार-शिला कह सकता हूँ।

हाँ, साथ में थी 'हीरो एन्ड हीरो वर्शिप' अंग्रेजी किताब। उसका मुझ पर कम उपकार नहीं।

× ×

जिस दिन की बात मैं कहने जा रहा हूँ, उस शाम को मैं एलोरा की प्रसिद्ध गुफाएँ देखकर लौटा था। पैदल तो चला ही करता था किन्तु प्रायः रेल की पटरी के किनारे-किनारे, जिससे कभी-कभी रेल की सवारी का जुगाड़ भी लग ही जाता।

सामान्य तौर पर मैं भोजनोपरांत ही किसी दूसरे स्थान के लिए प्रस्थान किया करता। शाम तक चलते रहकर किसी भी रेलवे स्टेशन के

मुसाफिर-खाने में जा ठहरता। जब अधिक सन्ध्या हो जाती तो छोटे-छोटे स्टेशनों पर तो प्रायः स्टेशन मास्टर के ही कमरे में जाकर बड़ी ही साधुता से पूछता—"क्या आप मुझे यहाँ बैठकर लैम्प के प्रकाश में थोड़ी देर कुछ पढ़ते रहने की आज्ञा देंगे?" किसी का क्या बिगड़ता था। सामान्य साधु से लोग पढ़ने-लिखने की बहुत आशा नहीं रखते। मेरे अपने वस्त्र भी एक धेले के राम रज में रंगे ही थे। प्रकाश में बैठकर पढ़ने की आज्ञा कौन नहीं देगा? प्रायः सभी दे देते थे। किन्तु, पाँच-दस मिनट भी न बीतते होंगे कि उनकी उत्सुकता उन्हें चैन न लेने देती। कभी तो वे केवल पूछते भर थे—"महाराज, क्या पढ़ रहे हैं?" कभी स्वयं उठकर झाँकते। जब उन्हें पता लगता कि मैं एक अंग्रेजी किताब पढ़ रहा हूँ और वह भी कोई सामान्य स्कूली किताब नहीं है तो मैं तुरन्त 'दया भाजन' से तरक्की करके 'आदर भाजन' बन जाता। थोड़े ही प्रश्नों के बाद वे भोजन के बारे में पूछते। मैं समय, स्थान पूछनेवाले की सुविधा-असुविधा का ध्यान धर यथा-योग्य उत्तर देता।

उस दिन शाम को ज्वराक्रांत होने के कारण मैंने भोजन नहीं ही स्वीकार किया। थोड़ा गर्म पानी पीकर रह गया। स्टेशन मास्टर ने मेरी आगे की यात्रा के बारे में पूछा। बना-बनाया उत्तर तैयार था—"कल प्रातःकाल नासिक की ओर चल दूँगा।"

"अभी एक गाड़ी जाती है उससे क्यों नहीं चले जाते?"

"मेरे पास टिकट के लिए पैसे नहीं हैं।"

"उसकी व्यवस्था हम कर देंगे, आप चले जाइये।"

सारा संसार यूं ही 'सुविधावादी' है, और उस पर उस दिन मुझे कुछ ज्वर भी था। मैंने रेल की यात्रा करना स्वीकार किया। पैदल चलना कुछ सिद्धांत का विषय तो था नहीं। वह था केवल रुपये आने पाई का। रात के नौ बजे या दस बजे रेल आई। स्टेशन मास्टर ने कहा—"चलिये स्वामी जी।" उन्होंने मुझे एक डिब्बे में बिठाया

और गार्ड को मेरे बारे में कुछ कह दिया। मैं निश्चिन्त था।

इसी तरह पहले भी एक-दो बार रेल बाबुओं की कृपा से मुझे रेल की मुफ्त की सवारी का चस्का लग चुका था। एक बार एक रेल बाबू जलगाँव स्टेशन की ओर दूर तक मुझे साथ-साथ ले आये, किन्तु न जाने बीच में स्वयं कहाँ उतर गये? मुझे चिंता हुई कि अब कोई टिकट पूछेगा तो क्या करूँगा? सोचा पहले से गार्ड को कह देना चाहिये। उसके लिए भी उपाय सूझा—किसी स्टेशन पर टहलते रहना और जब गाड़ी सीटी दे, तब सीधे गार्ड के डब्बे में जा चढ़ना। केवल मुझे डिब्बे से उतारने के लिए तो गार्ड गाड़ी रोकने से रहा। मैंने डरते हुए बहुत साहस के साथ ऐसा ही किया।

गार्ड ने मुझे देखते ही कहा—'आइये-आइये' अपने बक्से पर एक कम्बल बिछाकर मुझे उस पर बैठने का इशारा किया। अपराधी की भाँति गार्ड के डिब्बे में पैर रखा था। इस अप्रत्याशित आदर से मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ। मैं गार्ड साहब को कहना ही चाहता था कि मैं बिना टिकिट यात्रा कर रहा हूँ कि उन्होंने मुझे बीच ही में रोक दिया। कुछ कहने ही न दिया। पूछा, "कुछ दूध लेंगे?" तुरन्त कुछ जलपान की व्यवस्था हो गई।

मैं सोच रहा था यह सब क्यों हो रहा है? मेरा साधु होना इस 'आतिथ्य' की पर्याप्त व्याख्या न थी। जलपान कर चुकने पर ज्यों ही मैं आसन जमाकर बैठा, गार्ड साहब ने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया स्वामी जी! कुछ जानते ही होंगे...।" अब सब मामला साफ था। चूड़ा, दूध इसी हाथ देखने की फीस थी। मेहनताना पहले चुका दिया गया था, मेहनत अब ली जा रही थी।

हाँ, तो पहले भी इस प्रकार के कई अनुभव हो चुके थे। उस दिन भी नासिक के एक या दो स्टेशन इधर तक, मैं निश्चित चला आया। अब नासिक में उतरना था। उतरने के पहले अपने कृपालु गार्ड को धन्यवाद देना चाहिये, सोच मैं अपने पूर्व अभ्यस्त ढंग से गार्ड के

डिब्बे में जा चढ़ा। "कहाँ! कहाँ!! कहाँ!!! चले आ रहे हो!' वाक्य ने मेरा स्वागत किया। "मैं ही हूँ जिसके बारे में स्टेशन मास्टर साहब ने आपसे कहा था कि यह नासिक तक जायेंगे।"

"तो तुम्हारा टिकट कहाँ है?"

"टिकट तो मेरे पास है नहीं। स्टेशन मास्टर ने मेरे बारे में कहा ही था......।

"रेलगाड़ी स्टेशन मास्टर के बाप की है? निकालो किराया।"

"किराये के पैसे तो मेरे पास नहीं हैं।"

"अच्छा तो करता हूँ पुलिस के हवाले।"

आज बुरी तरह से फँसा था। मैंने गार्ड से कुछ कहना चाहा। किन्तु वह तो मुझे बोलने ही नहीं देता था। शुद्ध गालियों में बात करता था। मेरे पास तो गालियाँ थी नहीं। यदि कहीं मन के कोने में एकाध पड़ी होगी तो एकदम बुझी हुई। अब मैं बदले में क्या देता? मौन ही एकमात्र अवलम्ब था। इसी का सहारा लिया।

थोड़ी ही देर पास बैठने से पता लगा कि गार्ड साहब 'पिये' हैं। अब तो जो थोड़ा बहुत बोल सकता था वह भी बेकार।

गार्ड साहब बीच-बीच में जो मन में आता सुनाते जाते थे। सुनते रहने के सिवाय और मैं कर ही क्या सकता था?

आदमी को स्वभाव से ही मैंने कभी 'बुरा' नहीं माना। सोच रहा था कि गार्ड साहब ऐसे 'बुरे' कैसे निकले? क्या स्टेशन मास्टर ने इन्हें कहा ही नहीं? कहा तो मेरे सामने था। तब यदि यह चाहते थे कि मैं गाड़ी में न चलूँ तो इन्होंने वहीं इन्कार क्यों नहीं कर दिया? सोचते-सोचते यही बात समझ में आई कि प्याले के नशे में यह भूल गये हैं। उनकी यह 'भूल' मेरी 'शूल' बन चुकी थी। पुलिस के हाथ में पड़ना, भय का कारण तो था ही, साथ ही अपमान का भी। मैं दोनों से समान रूप से भयभीत था।

जैसे-तैसे 'नासिक' स्टेशन आया। गाड़ी रुकी। गार्ड बोला, "जाओ, अपना सामान लेकर आओ ?"

मैं अपने तीसरे दर्जे के डिब्बे में आया। जो थोड़ा-बहुत सामान था उसे बटोरने लगा—कम्बल, बाल्टी और एकाध और चीज। उसे समेटते समय ख्याल आया कि पुलिस को तो वह सौंपने वाला ही है, थोड़ा विलम्ब करके क्यों न चलूँ। गुस्सा होकर आयेगा तो पुलिस को ही तो सौंपेगा। थोड़ा विलम्ब करने पर भी जब वह न आया तो मुझे सूझा कि यह सम्भव है कि वह शायद इस बात को भी भूल जाय कि उस ने मुझे अपना सामान लेकर आने को कहा है। काफी देर प्रतीक्षा करते रहने पर भी जब मुझे उधर से कोई आता दिखाई नहीं दिया, तब मैं भी उधर नहीं ही गया। मैं पुल की ओर बढ़ा और जो बाबू टिकट ले रहा था उससे सब-कुछ सच-सच कह दिया। बाबू बोला 'जाइए 'स्वामी जी !'

उस दिन उस यमराज सदृश गार्ड के बन्धन से मुक्त होने में मुझे जो आनन्द हुआ, उसकी तुलना मैं अब किस आनन्द से करूँ ?

× × ×

उक्त अनुभव २२ वर्ष पुराना है। एक अनुभव एकदम इधर का है। वर्धा से प्रयाग और दिल्ली आना-जाना तो रोज का काम है। टिकट कभी नागपुर का, कभी इटारसी तक का, कभी प्रयाग या दिल्ली तक का। हाँ, प्रायः तीसरे दर्जे का ही। इसका मतलब यह नहीं कि मैं सदैव गांधी क्लास में ही चलता हूँ। रेल में चलना मेरे लिए आज भी केवल आराम और रुपये आने पाई में समझौते करने का ही प्रश्न है। हर बार कहीं-न-कहीं समझौता हो ही जाता है। नियत समय पर नियत स्थान पर पहुँच न होने से प्रायः यात्रा अनिवार्य रहती है। टिकट चाहे जिस दर्जे का लिया हो, किसी-न-किसी दर्जे में चढ़ चलने का संकल्प लेकर ही मैं स्टेशन की ओर अग्रसर होता हूँ। जिस

दिन की बात मैं कहने जा रहा हूँ, उस दिन पूर्वप्रदत्त वचनबद्ध होने के कारण थोड़ा ज्वरांश रहते भी मैं वर्धा से निकल पड़ा। नागपुर से ही दूसरी गाड़ी पकड़नी थी, इसलिए टिकट नागपुर तक का ही लिया गया। रात की मुसाफिरी और तबियत खराब, सोचा सेकंड क्लास का टिकट लूँगा। उसमें जगह न थी, इसलिए टिकट न मिला, यह पुरानी सेकंड क्लास की बात है; नई की नहीं। एक भिन्न बातचीत में ऐसा फँसा कि नागपुर से आगे का टिकट लेने की बात गाड़ी के सीटी देने पर ध्यान में आई। गार्ड अर्धपरिचित थे। उसने कहा, स्वामी जी लेटे रहिये, इटारसी चल कर ही व्यवस्था हो जायगी।

पैसेंजर गाड़ी के देर से पहुँचने पर आश्चर्य क्या जब उन दिनों ग्रैन्डट्रन्क नौ-नौ घंटे लेट होती थी। उस दिन गाड़ी स्टेशन पर पहुँची तो पंजाब मेल तैयार मिला। पंजाब मेल भी लेट था। जल्दी-जल्दी सामान उठाकर पुल पार किया। मैं तो टिकट की चिन्ता में लगा और अपने साथी को जहाँ सींग समाये वहाँ सामान डालने को कहा। टिकट बाबू पैसे ले चुका था। रसीद काटने जा ही रहा था कि गाड़ी चल दी। मैंने यह सोच लिया कि 'दिनेश' कहीं-न-कहीं चढ़ ही गया होगा, इसलिए मैं भी गाड़ी के पायदान पर खड़ा हो गया। तो भी 'दिनेश' चढ़ा या नहीं, यह निश्चितरूप से जान लेना आवश्यक था। बहुत इधर-उधर झाँका। वह कहीं दिखाई नहीं दिया। सोचा अगले स्टेशन पर उतर कर देखूँगा। और चारा भी क्या था? दिल्ली की ओर इटारसी के बाद पहला स्टेशन होशंगाबाद ही है। मैं वहाँ उतरा। गाड़ी केवल तीन मिनिट रुकती है। मैं गाड़ी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ गया। 'दिनेश' कहीं दिखाई न दिया। क्या दिनेश गाड़ी में न चढ़ सका? हो सकता है कि चढ़ा हो, किन्तु भीड़-भाड़ में मुझे दिखाई न दिया हो। उसे क्या मालूम कि मैं स्टेशन पर उसे ढूँढ़ने उतर पड़ूँगा। नहीं तो शायद सिर बाहर निकाले रहता। हो सकता है कि सिर बाहर निकाले ही हो, किन्तु हो प्लेटफार्म की दूसरी ओर की खिड़की के बाहर

यदि वह न चढ़ सका, तब तो बिचारा बिना टिकट के सारा सामान लिये इटारसी स्टेशन पर ही खड़ा होगा। और उसके पास कुछ पैसे भी तो नहीं। तो क्या मैं इस गाड़ी में न जाऊँ ?

किन्तु यदि चढ़ गया होगा तो बिना टिकट और बिना पैसे के उसका क्या हाल होगा ? भूखा-प्यासा किसी तरह दिल्ली पहुँच भी गया तो आगे कहाँ और कैसे जाएगा ? गार्ड ने दो-तीन बार मेरी ओर देखा कि यह महाशय कब गाड़ी में बैठते हैं ? मैं पागल की तरह एक सिरे से दूसरे तक बड़ी तेजी से घूम रहा था। अंत में जब उसने देखा कि इन्हें तो केवल गाड़ी नापना भर है, उसने सीटी बजाई और अपनी गाड़ी लेकर चला गया। मैं कुछ निश्चय न कर सका। यदि कर सका तो यह कि मुझे होशंगाबाद स्टेशन पर ही खड़ा रहना चाहिये। गाड़ी चली गई, और अपना सा मुँह लेकर स्टेशन पर खड़ा रह गया।

उस दिन की याद कर इस समय तो मुझे भी हँसी छूट रही है। अब सोचता हूँ, काश, उस समय मेरा कोई फोटो ले लेता। पंत जी की एक पंक्ति है—"सुखों में दुःख की स्मृतियाँ मधुर।"

अब आप ही सोचिये कि प्रातः कृत्यों का समय। पास में लोटा भी नहीं। क्या दुर्दशा थी ? मैं स्टेशन मास्टर के पास गया। अर्ज़ की 'जरा पिछले स्टेशन पर मेरे साथी की पूछताछ कर दें।' बोला, 'फोन बिगड़ा है।' सचमुच रहा ही होगा। किन्तु फोन को भी क्या उसी दिन बिगड़ना था ?

मैंने सोचा कि मैं यहाँ से होशंगाबाद गुरुकुल जाऊँगा, और वहाँ पर जाकर कहूँगा कि मैं आनन्द कौसल्यायन हूँ। असंभव नहीं कि किसी-न-किसी ने आनन्द कौसल्यायन नाम सुन-पढ़ न रखा हो, और यह भी सम्भव है कि कोई विश्वास भी कर ले। यही तय कर मैं कोई मील भर चला आया। देखता क्या हूँ कि उधर से एक मालगाड़ी चली आ रही है। मैं उसके पीछे-पीछे दौड़ आया। स्टेशन मास्टर से निवेदन किया कि वे मुझे उस मालगाड़ी से वापस इटारसी भेज दें।

स्टेशन मास्टर ने कहा, एक एक्सप्रेस पीछे आ रही है। आप उससे चले जाँय वह पहले पहुँचेगी। टिकट एक्सप्रेस का नहीं मिल सकता था, क्योंकि होशंगाबाद इटारसी से कुल ११ मील था, और टिकट लेने के लिए कम-से-कम सौ मील की मुसाफिरी की शर्त थी। मैं बिना टिकट ही गाड़ी में बैठ गया। घड़ी देखकर मिनटों की गिनती आपने भी बहुत बार की है। मैंने भी की है। किन्तु उस दिन तो सैकंडों का भी हिसाब लग रहा था।

गाड़ी इटारसी पहुँची। मुझे देखते ही इटारसी का एक टिकट बाबू बोला, "स्वामी जी।" वह लड़का यहीं छूट गया, और देखता क्या हूँ 'दिनेश' बेतहाशा भागा आ रहा है। सभ्यता ने उस दिन उसे छाती से लगा लेने नहीं दिया। परस्पर कितनी प्रसन्नता हुई !

ज्वरांश तो मुझे था ही। थकावट और प्रसन्नता ने मिलकर उसे बढ़ा दिया। मैं सैकंड क्लास वेटिंग रूम में बिस्तर बिछाकर जा लेटा।

१६

हिन्द महासागर का रत्न : लंका

यद्यपि एशिया के अनेक दूसरे देशों की तरह 'सिलोन' की गिनती पूर्व में ही है, किन्तु है वह भारत के ठेठ दक्षिण में।

'सिलोन, का राष्ट्रीय ध्वज चिरंजी रंग का है, और उस पर सिंह का चित्र बना हुआ है; हाथ में तलवार लिये। जिस 'विजय' ने अपने पांच सौ साथियों सहित गुजरात अथवा बंगाल के 'लाढ' देश से सर्वप्रथम 'सिलोन' पहुँच कर उसे एक भारतीय उपनिवेश का रूप दिया, वह एक सिंह की ही सन्तान था; सिंह द्वारा लाया गया, इसीलिए सिंहल। 'सिंहल' का ही बिगड़ा हुआ रूप है—'सिलोन'।

यों 'सिंहल' अथवा 'सिलोन' का आज का अधिकृत नाम है—श्री लंका। रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को सम्बोधित करके कहा था—

> अपि स्वर्णमयी लंका, लक्ष्मण मे न रोचते।
> जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि॥

[लक्ष्मण ! यद्यपि लंका सोने की है, तो भी मुझे अच्छी नहीं लगती। जननी और जन्म-भूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है।]

राम रावण की लंका कौन-सी थी, इस विषय पर कुछ विद्वानों के अनोखे मत हैं, किन्तु आज का 'सिलोन' अथवा 'श्री लंका' तो भारतीय समुद्र के बीच स्थित 'सिंहल' द्वीप ही है।

आप धनुष्य कोडी—रामेश्वरम् से आगे का स्टेशन—से दो-ढाई घंटे में जहाज़ द्वारा तलेमन्नारू—सिंहल तट—पर जा उतर सकते हैं,

और मद्रास से दो-ढाई घंटे में हवाई जहाज़ द्वारा सीधे कोलम्बो पहुँच सकते हैं।

२५,००० वर्ग मील में फैले हुए सिंहल द्वीप की आज की जन-संख्या ६५,००,००० होगी; प्रत्येक पाँच आदमियों में से वहाँ चार बौद्ध हैं ?

विजय की लंका-विजय के बाद और उससे कहीं बड़ी घटना भारत की लंका पर धर्म-विजय हुई। 'धर्म-विजय', विजयी और विजित दोनों का कल्याण करती है। सिंहलवासियों के विश्वास के अनुसार स्वयं भगवान बुद्ध ने तीन बार लंका को अपने चरण स्पर्श से पवित्र किया था। पहली बार बुद्धत्व के नौवें महीने में, दूसरी बार बुद्धत्व प्राप्ति के पांचवें वर्ष में और तीसरी बार नौवें वर्ष में। यद्यपि सारे त्रिपिटक में कहीं एक भी जगह भगवान बुद्ध के लंका जाने का वर्णन नहीं है, तो भी श्रद्धालुओं के लिए भगवान बुद्ध के चरण-चिह्न समन्त-कूट पर्वत पर अंकित हैं, और हज़ारों-लाखों भक्त प्रतिवर्ष उनकी पूजार्थ समन्त-कूट पर्वत की चढ़ाई चढ़ते हैं। उन चरण-चिह्नों की यह विशेषता है कि विष्णु-भक्तों के लिए ये विष्णु भगवान के हैं और मुसलमान तथा ईसाई भाइयों के लिए आदम के। इसीलिए उस पर्वत-शिखर का एक दूसरा नाम आदम की चोटी (Adam's Peak) भी है।

इतिहासज्ञ यदि यह सब न मानें तो उन्हें अशोक-पुत्र महेन्द्र-स्थविर के लंका गमन को तो वह पुण्य-दिवस मानना ही होगा; जिस दिन लंका भारत के साथ सदा के लिए सांस्कृतिक एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया। महेन्द्र के बाद अशोक-पुत्री संघमित्रा बोधिवृक्ष की जो शाखा लंका ले गई और जिसे लंका की उस समय की राजधानी अनुराधपुर ले जाकर रोपा गया, वह आज संसार में सब से बड़ा और पुराना वृक्ष है। 'महावंश' ने महेन्द्र तथा संघमित्रा की लंकायात्रा के वृत्तान्त को इस प्रकार सुरक्षित रखा है:—

जम्बू द्वीप में प्रतिष्ठित हज़ारों विहारों का ध्यान धर महाराज

अशोक ने महास्थविर मोग्गिलपुत्ततिस्स से पूछा—"भन्ते ! बुद्ध-धर्म में किस का त्याग महात्याग है ?"

मोग्गिलपुत्त ने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"भगवान (बुद्ध) के जीवन-काल में भी तेरे सदृश कोई त्यागी नहीं था ।"

संतुष्ट हुए राजा ने फिर पूछा—"क्या मेरे जैसे आदमी को धम्म-दायाद नहीं कह सकते ?"

स्पष्टवक्ता महास्थविर ने कहा—"राजन् ! तुम्हारे जैसे महात्यागी को भी धम्म-दायाद नहीं कह सकते;—दाता (दायक) कह सकते हैं। लेकिन जो अपने लड़के और लड़की को धर्म में प्रव्राजित कराये, उसे धर्म का दायाद और दायक दोनों कह सकते हैं ।"

धर्म का दायाद बनने की इच्छा से महाराज अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा दोनों को बुलाकर पूछा—"तात ! क्या प्रव्रज्या ग्रहण करोगे ?"

"देव ! यदि आपकी इच्छा हो तो हम आज ही प्रव्रजित हो सकते हैं । प्रव्रजित होने से हमारा और आपका दोनों का कल्याण है ।"

बुद्धि और बल से युक्त महेन्द्र और संघमित्रा का प्रव्रज्या-संस्कार बड़े समारोह से हुआ । धन्य थे, वे दोनों, जिन्होंने पिता की इच्छा-मात्र पर गृहस्थ-जीवन को त्याग दिया । प्रव्रज्या के समय महेन्द्र की आयु २० वर्ष और संघमित्रा की आयु १८ वर्ष की थी ।

× × ×

महामति महेन्द्र को प्रव्रजित हुए बारह वर्ष हो गये । उनके उपाध्याय महास्थविर मोग्गिल पुत्ततिस्स ने और संघ ने उन्हें 'मनोरम लंकाद्वीप में जाकर मनोज्ञ बुद्ध धर्म' की स्थापना की आज्ञा दी थी । महेन्द्र ने सोचा कि इस समय लंका में वृद्ध मुटसिव का राज्य है, उसके पुत्र के सिंहासनारूढ़ होने पर लंका पहुँचूँगा । इसलिए वे

उपाध्याय और संघ की वन्दना कर अन्य चार-स्थविरों[1] तथा सुमन श्रामणेर[2] को साथ ले दक्षिणगिरि[3] की ओर चल पड़े। वहाँ से धीरे-धीरे विदिषागिरि[4] पहुँच अपनी माता के दर्शन किये।

आप की माता का नाम था देवी। देवी की बहिन का भण्डु नामक लड़का स्थविर के उपदेश से अनागामी फल[5] को प्राप्त हुआ और स्थविर के पास रहने लगा।

महातेजस्वी महेन्द्र एक मास अपनी माता के पास रहे। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को वे चारों स्थविरों, सुमन, श्रामणेर और भण्डु सहित, 'आकाश मार्ग' से आकर लंका में रमणीय मिश्रक पर्वत के शील-कूट नामक शिखर के मनोहर अम्बस्थल पर उतरे। लंका-हितैषी मुनि (बुद्ध) ने लंका के हित के लिए, जिनके बारे में भविष्यवाणी की थी, लंकावासियों द्वारा पूजित, लंका के लिए दूसरे बुद्ध सदृश ये महेन्द्र भी लंका आ पहुँचे।

× × ×

सिंहल का राजा देवानाम्प्रिय तिष्य मिश्रक पर्वत पर शिकार खेल रहा था। जिस प्रकार एक मृग रामचन्द्र जी को बहका कर कहाँ-से-कहाँ ले गया था, उसी प्रकार एक मृग राजा देवानामप्रिय तिष्य को भी बहका कर जहाँ स्थविर महेन्द्र खड़े थे वहाँ ले आया। राजा देख

१. इट्टिय, उत्तिय, सम्बल, और भद्रसाल।
२. संघ द्वारा दी जाने वाली उपसम्पदा अप्राप्त, केवल प्रव्रजित भिक्षु श्रामणेर कहलाता है।
३. राजगृह (बिहार) के पर्वतों का दक्षिण प्रदेश।
४. भिलसा (रे० स्टेशन) प्रायः तीन मील, वर्तमान बेसनगर (रियासत ग्वालियर)।
५. मोक्ष की उस अवस्था को पहुँच जाना कि फिर संसार में आना सम्भव न हो।

कर शंकित हुआ। स्थविर ने कहा—"आओ! तिष्य।"

'तिष्य' कहने से राजा ने उन्हें यक्ष समझा। स्थविर ने कहा—"महाराज! हम धर्मराज (बुद्ध) के श्रावक हैं, और आप ही पर अनुग्रह करने के लिए जम्बू द्वीप से यहाँ आये हैं।"

यह सुन अपने मित्र महाराज अशोक का सन्देश स्मरण कर राजा ने निश्चय किया कि ये सचमुच भिक्षु हैं। साथी भिक्षुओं की ओर देख राजा ने पूछा—"यह सब कब आये ?"

स्थविर ने उत्तर दिया—"मेरे साथ ही।"

राजा—"क्या जम्बुद्वीप में इस प्रकार के और भी भिक्षु हैं ?"

स्थविर—"जम्बुद्वीप काषाय वस्त्र से प्रज्वलित है। वहाँ (इस समय) बहुत सारे त्रिविद्य (तीनों विद्याओं को जानने वाले) सिद्ध, दिव्य श्रवण-शक्ति वाले अरहत भिक्षु रहते हैं।"

राजा—"भन्ते! आये कैसे हैं ?"

स्थविर—"न जल से न थल से।"

राजा ने समझ लिया कि आकाश-मार्ग से आये। महास्थविर ने राजा की परीक्षा लेने के लिए पूछा—"राजन्! इस वृक्ष का क्या नाम है ?"

राजा—"भन्ते! इस वृक्ष का नाम आम है।"

स्थविर—"राजन्! इस वृक्ष को छोड़कर और भी आम्र वृक्ष हैं ?"

राजा—"बहुत से आम्र वृक्ष हैं।"

स्थविर—"राजन्! इस आम्र वृक्ष को तथा अन्य आम्र वृक्षों को छोड़कर पृथ्वी पर और भी वृक्ष हैं ?"

राजा—"भन्ते! बहुत हैं, किन्तु वह आम्र के नहीं।"

स्थविर—"राजन! इन अनाम्र वृक्षों और अन्य आम्रवृक्षों को छोड़कर भी पृथ्वी पर क्या कोई वृक्ष है ?"

राजा—"भन्ते! यही एक वृक्ष है।"

स्थविर समझ गये कि राजा बुद्धिमान और पंडित है।

इसी प्रकार के और भी कई प्रश्नों द्वारा राजा की बुद्धि की जाँच करके स्थविर ने राजा को हस्तिपादोपम सूक्त का उपदेश दिया। यही उपदेश भगवान (बुद्ध) के जीवन-काल में आयुष्मान सारीपुत्त ने श्रावस्ती[1] के लोगों को दिया था।

× × ×

तब स्थविरों की वन्दना करने के लिए पाँच-सौ स्त्रियों सहित अनुला देवी भी आईं। उन पाँच सौ स्त्रियों के साथ अनुला देवी ने राजा से कहा—"देव ! हम भिक्षुणी बनना चाहती हैं।"

राजा ने स्थविर से प्रार्थना की—"आप इन्हें भिक्षुणी बनावें।"

स्थविर ने राजा को उत्तर दिया—"हमें स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने आज्ञा नहीं। पाटलिपुत्र (पटना) में संघमित्रा नाम से विख्यात मेरी छोटी बहन एक बहुश्रुत भिक्षुणी है। (आप) हमारे पिता राजा (अशोक)के पास सन्देश भेजें कि वह (संघमित्रा) महाबोधी वृक्ष-राज की दक्षिण शाखा ले श्रेष्ठ भिक्षुणियों सहित यहाँ आ जाय। वही स्थविरी आकर इन स्त्रियों को भिक्षुणी बनायेगी।"

× × ×

महारिष्ट भानजे ने राजा धर्माशोक के पास पहुँच राजा का सन्देश अर्पण कर फिर स्थविर का सन्देश कहा—"राजश्रेष्ठ ! आपके मित्र (देवानाम्प्रिय तिष्य) के भाई की स्त्री प्रव्रज्या की इच्छा करती हुई नित्य ही संयमपूर्वक रहती है। प्रव्रजित करने के लिए भिक्षुणी संघमित्रा को और उसी के साथ महाबोधी की दक्षिण शाखा भी भेज दें।"

उसने स्थविर का यह वचन संघमित्रा से भी कहा। स्थविरी ने स्थविर का यह विचार जान राजा (अशोक) से आज्ञा माँगी। राजा बोला—"बेटी ! तुझे (भी) न देखकर, पुत्र और नाती[2] के वियोग

१. वर्तमान सहेट-महेट बलरामपुर (जि० गोंडा, यू० पी०)
२. संघमित्रा का पुत्र—सुमन श्रामणेर

से उत्पन्न हुए शोक को मैं कैसे सहूँगा ?"

स्थविरी ने उत्तर दिया—"एक तो भाई की आज्ञा है ! दूसरे प्रव्रजित होने वाले बहुत हैं। इसलिये मेरा वहाँ जाना ही योग्य है।"

राजा ने संघ से पूछा—"भन्ते ! लंका में महाबोधी भेजनी चाहिये, अथवा नहीं ?

स्थविर मोग्गलिपुत्त ने उत्तर दिया—"भेजनी चाहिये।"

राजा संतुष्ट हुआ।

× × ×

आश्विन शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा के दिन महाबोधी (की एक शाखा) लंका पहुँची। आगमन के सत्रहवें दिन उसमें अंकुर निकल आये। राजा ने उसे अपने राज्य में प्रतिष्ठित कर नाना प्रकार से उसकी पूजा कराई।

बारह सौ वर्ष से अनुराधपुर (लंका) में प्रतिष्ठित महाबोधी संसार का शायद सबसे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष है।

× × ×

अपनी सम्पूर्ण आयु का लगभग आधा भाग लंकावासियों के हित में बिता कर; चैत्य पर्वत पर वर्षों वास कर, साठ वर्ष की आयु में महा-स्थविर महेन्द्र ने निर्वाण प्राप्त किया। अनुराधपुर की चप्पा-चप्पा ज़मीन लंकावासियों को महास्थविर और उनके उपकारों का स्मरण कराती है।

जिस स्थान पर ऋषि महेन्द्र की देह का अन्तिम संस्कार हुआ था, कृतज्ञ सिंहल जाति आज भी उस स्थान को ऋषिभूमंगन (= ऋषि + भूमि + अंगन) कहती और वहाँ श्रद्धा के फूल चढ़ाती है।

धर्म के अतिरिक्त सिंहल को जो दूसरी चीज भारत से बाँधे हुए है, वह है वहाँ का साहित्य। सारा सिंहल बौद्ध धर्ममय है। त्रिपिटक, जो पालि में है, वह तो और विशुद्ध भारतीय साहित्य है ही। सिंहल (भाषा) में भी जो कुछ है, वह भी भारतीय ही है। सिंहल भाषा दक्षिण की चार भाषाओं—तामिल, तेलगू, कन्नड़ तथा मलयालम—

के भी दक्षिण में होने से बहुधा द्रविड़ परिवार की भाषा समझ ली जाती है। किन्तु वह तो बंगला, गुजराती, मराठी ही की तरह की एक आर्य भाषा है। उसकी वर्णमाला देवनागरी है। उसकी लिपि भी उसी प्रकार ब्राह्मी का विकसित अथवा परिवर्तित रूप है, जिस प्रकार अन्य उत्तर भारतीय भाषाओं की लिपियाँ हैं। उसकी शब्दावली भी प्रधान रूप से संस्कृत-पालीमय है। हाँ, कालान्तर, उसमें तामिल, पुर्तगीज़ तथा डच शब्दों की भी काफ़ी भरमार आ गई है।

किसी भी जाति के जीवन में उसके त्यौहारों का कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि जाति के त्यौहार उसका जीवन होते हैं। शेष सब रहता है, नून, तेल, लकड़ी का सौदा। सिंहल के सब से बड़े त्यौहार जातीय-महोत्सव हैं, वैशाख-पूर्णिमा और पौष-पूर्णिमा। वैशाख-पूर्णिमा का ही दिन भगवान् बुद्ध के जन्म, बुद्धत्व प्राप्ति और परिनिर्वाण लाभ का दिन है; और पौष-पूर्णिमा है, महा-मती महास्थविर महेन्द्र के लंका पहुँचने का दिन। जिस वैशाख-पूर्णिमा के दिन भारत में अभी तक एक दिन की भी छुट्टी नहीं होती, उसी वैशाख-पूर्णिमा के ही दिन सिंहल में चार-पाँच दिन के लिए तमाम सरकारी दफ्तर बन्द हो जाते हैं।

वैशाख-पूर्णिमा और पौष-पूर्णिमा के दिन सिंहल द्वीप अनुराधपुर की ओर उमड़ पड़ता है। स्पेशल ट्रेनों और बसों का तांता बँध जाता है। विहारों में, घरों में, सड़कों पर, हर जगह सजावट-ही-सजावट दिखाई देती है। स्थान-स्थान पर क्षेत्र खुले हुए हैं, जहाँ आग्रहपूर्वक भोजन कराया जाता है। शर्बत के प्यालों की तो कहीं भी कमी नहीं रहती। ऐसा क्यों न हो? संसार को धर्मामृत पान कराने वाले शान्ति-नाथ की जयन्ती जो है।

तीसरा बड़ा त्यौहार या उत्सव आषाढ़-पूर्णिमा का है। यही वह दिन है जब तथागत ने बनारस के पास सारनाथ में अपना धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था, अर्थात् अपने पाँच शिष्यों को सर्वप्रथम उस ज्ञान का

प्रसाद बाँटा था; जिसे उन्होंने स्वयं बोधीवृक्ष के नीचे प्राप्त किया था। हमारे राष्ट्रीय ध्वज पर जो चक्र बना हुआ है, वह उसी धर्म-चक्र प्रवर्तन का प्रतीक है। भारत से वह धर्म-चक्र चलते-चलते संसार के अनेक देशों में फैल गया। यही भारत की संसार को सबसे बड़ी देन है।

चौथा त्यौहार भी अगस्त के महीने में ही होता है—पूरे चौदह दिन का। कीर्ति, श्री मेघवर्ण के समय में—बुद्ध से आठ सौ पाँच वर्ष बाद—बुद्ध का दन्त-धातु भारत से लंका पहुँचा। जिस दिन वह लंका पहुँचा, उस दिन से आज तक मानो लंका का सारा इतिहास इस एक पवित्र धातु के साथ गुँथा हुआ है। प्रतिवर्ष इस दन्त-धातु की एक यात्रा, एक जुलूस निकलता है—गाजे-बाजे के साथ, नाना प्रकार के नृत्यों के साथ, हाथियों के साथ—बड़ा ही शानदार जुलूस। यह उत्सव लंका की प्राचीन राजधानी कैण्डी ही नहीं, समस्त लंका की शोभा है। सिंहल जाति अपने आपको इस दन्त-धातु से कितना आबद्ध समझती है।

१८१८ में सिंहल में एक विद्रोह हुआ था। उस समय कैण्डी का यह दन्त-धातु कैण्डी से हटाकर एक जंगल में ले जाकर छिपा दिया गया था। जब अंग्रेज़ उस विद्रोह को शान्त करने में सफल हो गये, तो वह जंगल में से दन्त-धातु भी निकाल लाये। तब लोगों ने कहा—

"अब अंग्रेज़ सचमुच हमारे देश के स्वामी हो गये हैं। क्योंकि जिस के पास दन्त-धातु है, वह चारों द्वीपों पर शासन कर सकता है। इतिहास में यह पहली बार है कि हमारा पवित्र दन्त-धातु हम से छिना है।"

जब से 'विजय' और उसके साथियों ने 'सिंहल' को अपना उपनिवेश बनाया, उस समय से लेकर १८१५ तक—पूरे साढ़े तेईस सौ वर्ष तक—सिंहल जाति ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखा। यह सत्य है कि एक समय दक्षिण के एलार ने अपने आपको उत्तर सिंहल का राजा घोषित किया था, और यह भी सत्य है कि पुर्त-

गाल और हालैण्ड के लोगों का भी लंका के किसी-न-किसी भाग पर कुछ समय तक अधिकार रहा है, किन्तु इस अधिकार ने कभी भी सिंहलवासियों का एक स्वतन्त्र-जाति कहलाने का अधिकार नहीं छीना था। सिंहल का स्वतन्त्र झंडा सिंहल के दूसरे प्रदेशों में फहराता ही रहा।

पुर्तगाल और डच शासकों के अत्याचारों और बाद में अंग्रेज़ों की उपेक्षा के कारण सिंहल में एक ऐसा समय आ चुका है, जब लगता था कि अब इस धर्म-द्वीप का दीपक आज बुझा कि कल बुझा। ईसाई पादरियों की सिफ़ारिशों पर लोगों को सरकारी पद मिले; ईसाई स्कूलों में बच्चों के धर्म-परिवर्तन के बाकायदा प्रयत्न किये जाते; छोटी-छोटी पुस्तकों द्वारा बुद्ध धर्म की आलोचना ही नहीं खुलकर मज़ाक उड़ाया जाता। इस सब का परिणाम यह हुआ कि बुद्ध-धर्म के लिए बहुत-से लोगों का जो उत्साह था, वह ठण्डा पड़ गया। कुछ लोगों ने सरकारी पदों के लोभ में बौद्धधर्म का त्याग कर ईसाइयत की दीक्षा ली। जो बौद्ध रहे, वे उपेक्षित बन गये, और स्वयं बुद्ध-धर्म गँवारों का 'धर्म' समझा जाने लगा।

उसी समय लंका के इतिहास ने पलटा खाया। १८७० के आस-पास गुणानन्द नाम के एक तरुण भिक्षु ने, जिसकी शिक्षा एक ईसाई स्कूल में हुई थी, और जो ईसाई ग्रन्थों से सुपरिचित था, ईसाइयत पर खुले आक्रमण करने आरम्भ किये। वह सुलेखक था, सुवक्ता था और शास्त्रार्थ में तो अपना सानी नहीं रखता था। पानदुरे में उसका ईसाइयों से जो शास्त्रार्थ हुआ, और उसमें उसकी जो विजय हुई, वह लंका के इतिहास की एक बहुत असाधारण घटना है। उसी शास्त्रार्थ की रिपोर्ट पढ़कर, थियोसाफिकल सोसायटी की संस्थापक करनल आल्काट और मैडम ब्लैवैट्स्की सिंहल आये और उन्होंने लंका के नवीन जागरण में भरसक सहयोग दिया।

कोई भी जागरण प्रायः चतुर्मुखी होता है। लंका का यह जागरण

भी लगभग चतुर्मुखी ही था। गाँव-के-गाँव जो किसी समय ईसाई हो गये थे, बौद्ध बनने लगे। कुछ ऐसे लोग थे, जो थे तो बौद्ध, किन्तु जिन्होंने उसे छिपाये रखने के लिए पुर्तगीज़ और डचों के ईसाई नाम रखने आरम्भ कर दिये थे। वे फिर सिल्वा, सोइसा और फरनैंडो से गुण-रत्न, विजय-रत्न और धर्म-रत्न बनने लगे। अनार्य-नामों से आर्य नामों ने स्थान ले लिया।

नामों के साथ-साथ भेष में भी परिवर्तन हुआ। यद्यपि आज एक पढ़ा-लिखा सिंहल सामान्यतया यूरोपीय भेष पहनता है, किन्तु वह अपने पास एक आर्य-पोषाक भी रखता है—सफेद कुर्ता, सफेद धोती, जिसे वह लुंगी के ढंग पर पहनता है, और एक साफ़ा, जिसे वह बगल के नीचे से निकाल कर कंधे पर डाल लेता है।

स्वभाषा-प्रेम भी सिंहल की इस नवीन जागृति का लक्षण है। लंका में आज भी आपको ऐसे महानुभाव मिल सकेंगे, जो अंग्रेज़ी में अंग्रेज़ों के भी कान काटते हैं; किन्तु अपनी ही भाषा बोलते समय जिनकी नानी मरती है। पर ऐसे लोगों की संख्या दिन-ब-दिन घट रही है। सिंहल के साहित्यिक जीवन ने इधर अभूतपूर्व उन्नति की है। साठ पैंसठ लाख की आबादी का छोटा-सा द्वीप—परन्तु कई दैनिक, कई साप्ताहिक, कई मासिक और बड़ी संख्या में सुन्दर पुस्तकें।

इधर लंका में हिन्दी-प्रचार ने भी उन्नति की है। राहुल जी की 'लंका' और मैथिलीशरण गुप्त जी की 'यशोधरा' सदृश पुस्तकों के जो सिंहल-अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, वे स्वयं सिंहल पण्डितों के किये हुए हैं।

समय-समय पर समाचार-पत्रों में 'भारत' और 'सिंहल' के मत-भेद के जो समाचार प्रकाशित होते रहते हैं, वे 'सिंहल' और 'भारत' के मतभेद न होकर दोनों देशों के सुरक्षित स्वार्थों के मत-भेद हैं और बहुत करके पिछले अंग्रेज़ी शासन-काल के अवशेष।

पिछले अंग्रेज़ी शासन-काल में सिंहल के राजनीतिक नेतागण बड़ी

मुसीबत में रहे हैं। उसका और चाय की खेती के बड़े-बड़े यूरोपियन मालिकों का आर्थिक स्वार्थ एक था। सिंहल-मज़दूर की अपेक्षा भारतीय-मज़दूर सस्ता पड़ने के कारण दोनों ही हृदय से यह चाहते थे कि भारतीय मज़दूर सिंहल में बना रहे। किन्तु साथ ही क्योंकि इससे सिंहल-मज़दूर की जीविका पर असर पड़ता था, इसलिए उन्हें राजनीतक प्लेट-फार्म से भारतीय मज़दूर को सिंहल से निकालने की बात भी करनी ही पड़ती थी।

सिंहल के शासक-वर्ग का आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों का संघर्ष एक अजीब पहेली है, एक उलझन है। वे आज भी उसमें उलझे हुए हैं। उस पहेली को बिना समझे 'सिंहल' और 'भारत' का सम्बन्ध समझ में नहीं आ सकता, और उस उलझन को बिना सुलझाये 'सिंहल' और 'भारत' का झगड़ा मिट नहीं सकता।

'सिंहल' और 'भारत' की सांस्कृतिक एकता अमर हो!

१७

धर्म का श्राद्ध

वह बड़ा सदाचारी था। पिता की मृत्यु पर उसने माता को ही अपना देवता समझा। वह मुँह धोने के लिए दातुन देता। नहाने के लिए जल देता। पैर-धोना आदि सेवा करता। इस प्रकार यवागु-भात आदि देकर माता को पालता था। एक दिन माँ बोली—"तात! तुझे दूसरे भी घर के काम करने हैं। अपने समान जाति-कुल की एक कुमारी ग्रहण कर ले। वह मेरी भी सेवा करेगी, और तू भी अपना काम कर सकेगा।"

"मैं, मैं अपने हित-सुख की कामना से तुम्हारी सेवा करता रहूँ। दूसरा कौन कर सकेगा?"

"तात! कुल-वृद्धि कर्म करना ही चाहिए।"

"मुझे गृहस्थी नहीं चाहिये। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा। तुम्हारे बाद प्रव्रजित हो जाऊँगा।"

उसकी माता ने बार-बार कहा। जब उसकी इच्छा नहीं हुई तो वह बिना उसकी स्वीकृति के ही समान कुल से लड़की ले आई। वह माता की ओर से उदासीन नहीं हुआ और उसके साथ रहने लगा।

उस 'देवी' ने भी सोचा कि मेरा स्वामी बड़े उत्साह से माँ की सेवा करता है, मैं भी यदि ऐसे ही करूँगी तो उसकी प्रिया हो जाऊँगी। वह 'माँ' की सेवा अच्छी तरह करने लगी।

जब 'पति' ने देखा कि वह 'माँ' की सेवा अच्छी तरह करती है,

तो उसे जो-जो मधुर खाद्य-भोज्य मिलता वह उसी को ला-ला कर देता।

इस प्रकार कुछ समय बीत गया। तब 'देवी' ने सोचा, यह जो-जो मधुर भोजन लाता है, मुझे ही देता है। शायद 'माँ' को निकाल देना चाहता हो। मैं इसकी 'माँ' को निकाल देने का उपाय करूँगी। यूँ अनुचित-ढंग से विचार कर एक दिन बोली—"स्वामी! तुम्हारे बाहर चले जाने पर तुम्हारी माता मुझे गाली देती है।" वह चुप रहा।

तब उसने सोचा—इस बुढ़िया को उत्तेजित कर पुत्र के विरुद्ध करूँगी। उस समय से खिचड़ी देने के समय या तो बहुत गर्म देती या बहुत ठंडी, या उसमें बहुत नमक होता, या एकदम अलूनी। यदि 'माँ' कहती कि यह बहुत गर्म है, अथवा बहुत नमकीन है तो भर कर ठंडा पानी डाल देती, फिर, यदि वह कहती कि बहुत ठंडी है और अलोनी है, तो चिल्लाने लगती—अभी तो बहुत गर्म और बहुत नमकीन कहती थीं! तुझे कौन संतुष्ट कर सकता है?

नहाने का जल भी बहुत गर्म करके पीठ पर बखेर देती। यदि वह कहती अम्म! मेरी पीठ जलती है, तो फिर भरकर ठंडा पानी उंडेल देती। फिर यदि वह कहती कि बहुत ठंडा है तो पड़ोसियों को सुनाती—अभी 'बहुत-गर्म' कहकर तुरत 'बहुत ठंडा' कहती है, कौन इस अपमान को सहेगा?

यदि वह कहती, "अम्म! चारपाई में बहुत पिस्सू हैं," तो उस की चारपाई निकाल कर उस पर अपनी चारपाई डाल, पीटकर, फिर ले जाकर बिछा देती—चारपाई पीट दी। बुढ़िया पिस्सुओं के मारे सारी रात बैठी-बैठी बिताती। तब, यदि वह कहती, अम्म! सारी रात खट-मल खाते रहे, तो वह उत्तर देती—"तेरी चारपाई बहुत पीटी, किन्तु कौन है जो इसको माँगों को समाप्त कर सके।"

फिर 'पति' को उत्तेजित करने के लिये सारे घर में थूक, सींठ, बाल फैला देती। वह पूछता—कौन है जो इस सारे घर को गन्दा करता है,

"तेरी 'माँ' ही है, जो ऐसा करती है, मना करने पर भी झगड़ा करती है। मैं ऐसी मनहूस के साथ एक घर में नहीं रह सकती। चाहे इसे घर में रख या मुझे रख।"

× × ×

उसने उसकी बात सत्य मान, और यह समझ कि सारा दोष 'माँ' का ही है, एक दिन माँ से कहा—"अम्म! तू इस घर में नित्य झगड़ा करती है। यहाँ से निकल कर अन्यत्र जहाँ चाहे रह।"

वह 'अच्छा' कह रोती हुई निकल गई और एक मित्र-कुल में, मज़दूरी कर बड़े कष्ट से दिन काटने लगी।

सास के चले जाने पर पतोहू को गर्भ रह गया। वह 'पति' और पड़ोसियों को कहती फिरी—उस 'मनहूस' के घर में रहते मुझे गर्भ नहीं रहा, चले जाने पर 'गर्भ' रहा। आगे चलकर पुत्र होने पर भी वह बोली—"जब तक तुम्हारी 'माता' घर में थी, मुझे पुत्र न हुआ। अब मिला है। इससे भी जान लो कि वह 'मनहूस' है।

× × ×

'माँ' ने जब यह सुना कि मुझे निकाल देने पर पुत्र हुआ है तो सोचा—"निश्चय से संसार में धर्म मर गया है। यदि धर्म मरा न होता तो 'माँ' को पीटकर निकाल देने वालों को 'पुत्र' न होता, वे सुख से न जीते। मैं धर्म का श्राद्ध करूँगी।"

एक दिन उस ने पिसे तिल, चावल, हांडी और कड़छी ली, और कच्चे श्मशान में जाकर तीन खोपड़ियों का चूल्हा बनाकर आग जलाई। फिर पानी की जगह जा सिर से स्नान कर चूल्हे की जगह आई। वहाँ चावलों को खोल, तिलों को धोना आरम्भ किया।

× × ×

उस समय शक्र ने संसार पर नज़र डाली तो देखा कि वह दुःख के कारण, धर्म को मरा जानकर धर्म का श्राद्ध करने जा रही है। वह ब्राह्मण का वेश बना, एक रास्ते चलते मुसाफिर की तरह उसके पास

जाकर बोला, "अम्म ! श्मशान में आहार नहीं पकाया जाता ! तू इस पके तिल-चावल का क्या करेगी ?"

शक्र ने पहली गाथा कही—

ओदात वत्थो सुधी अल्लकेसा
कच्चानि किं कुम्भिमधिस्स थिल्वा ।
पिट्ठा तिला धोवसि तण्डुलानि
तिलोदनो होहिति किस्स हेतु ॥१॥

—हे श्वेत-वस्त्र, भीगे केश वाली कात्यायनी ! यह क्या हांडी चढ़ाकर पिसे-तिल और चावल धोती है ? यह तिलोदन किस के लिए होगा ? ॥१॥

बुढ़िया ने शक्र को उत्तर देते हुए दूसरी गाथा कही—

न खो अय ब्राह्मण भोजन त्था
तिलोदनो होहिति साधु पक्को ।
धम्मो मतो तस्स बहुतयज्ज
अहं कोरस्सामि सुसान मज्झे ॥२॥

— ब्राह्मण ! यह तिलोदन भोजन के लिए नहीं है । यह अच्छी तरह पके । धर्म मर गया है । मैं आज श्मशान में इस का श्राद्ध करूंगी ॥२॥

तब शक्र ने तीसरी गाथा कही—

अनुविच्च कच्चानि करोहि किच्चं
धम्मो मतो को नु तवेतसंसी ।
सहस्सनेत्तो अतुलानुभावो
न मिय्यति धम्मवरो कदाचि ॥३॥

—हे कात्यायनी ! विचारपूर्वक कार्य कर । तुझे किस ने कहा कि धर्म मर गया है । मैं अतुल-प्रताप वाला हूँ । सहस्र-नेत्र हूँ । श्रेष्ठ धर्म कभी नहीं मरता ॥३॥

यह सुन बुढ़िया ने दो गाथायें कहीं—

ढलहप्पमाणं मम एत्थ ब्रह्मे
धम्मो मतो नत्थि ममेत्थकङ्खा।
ये ये बदानि पापा भवन्ति
ते ते वदानि सुखिता भवन्ति ॥४॥
सुनिसा हि मय्हं वञ्झा अहोसि
सा मं वधित्वान बिजायि पुत्तं ।
सादानि सब्बस्स कुलस्स इस्सरा
अहम्पमस्हि अपविद्धा सकिका ॥५॥

—हे ब्रह्म (शक्र ?) मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि धर्म मर गया है। मेरे पास इसका दृढ़ प्रमाण है। जो जो इस समय पापी होते हैं, वे-वे ही इस समय सुखी होते हैं ॥४॥ मेरी पतोहू बाँझ थी, उसने मुझे पीटा, तो उसे 'पुत्र' हो गया। वह ही इस समय सारे कुल में प्रधान हो गई और मैं अकेली अनाथ हो गई ॥५॥

तब शक्र ने छठी गाथा कही—

जीवामि वोहं नाहं मतोस्मि
तवेव अत्थाय इहागतोस्मि।
यं तं वधित्वान विजायि पुत्तं
सहाव पुत्तेन करोमि भस्मं ॥६॥

—मैं मरा नहीं। मैं जीता हूँ। मैं तेरे ही लिए यहाँ आया हूँ। तुझे पीट कर जिसने 'पुत्र' को जन्म दिया उसे पुत्र सहित भस्म करता हूँ ॥६॥

यह सुना तो 'माँ' ने अपने-आपको धिक्कारा कि मैंने क्या कह दिया। उसने अपने नाती को जीता रखने के लिए सातवीं गाथा कही—

एतञ्च ते रुच्चति देवराज
ममेव अत्थाय इहागतोस्मि।
अहञ्च पुत्तो सुनिसा च नत्ता

सम्मोदमाना घरमावसेम ॥७॥

—हे देवराज ! यदि तुझे अच्छा लगता है और यदि तू मेरे ही लिए यहाँ आया है तो मैं यही चाहती हूँ कि मेरा पुत्र, मेरा नाती, मेरी पतोहू और मैं सब प्रसन्नतापूर्वक घर में रहें ॥७॥

तब शक्र ने आठवीं गाथा कही—

एतञ्च ते रुच्चति कातियानि
हतापि सन्ता न जहासि धम्मं,
तुवञ्च पुत्तो सुनिसा च नत्ता
सम्मोदमाना घरमावसेथ ॥८॥

—हे कात्यायनी ! यदि तुझे यही अच्छा लगता है और तू पिटने पर भी धर्म नहीं छोड़ती है, तो तेरा पुत्र, तेरा नाती, तेरी पतोहू और तू प्रसन्नतापूर्वक घर में रह ॥८॥

शक्र के प्रताप से वे दोनों अपनी 'माँ' के गुणों को स्मरण कर गाँव में पहुँचे और पूछा—हमारी माँ कहाँ है ! लोगों ने बताया—श्मशान की ओर गई है ! वे 'माँ, माँ' कहते श्मशान की ओर दौड़े और उसे देखते ही उसके पैरों पर गिरकर 'माँ हमारे दोष क्षमा करें' कह क्षमा माँगी ।

'माँ' ने 'नाती' को गोद में ले लिया । इस के बाद वे प्रसन्न-चित्त मेल से रहने लगे ।

१८

महेन्द्र और संघमित्रा

"आज लंका में क्या ठाठ-बाट होगा !"—मेरे साथी सिंहल-भिक्षुओं ने कहा।

"क्यों ?"

"आज ज्येष्ठ-पूर्णिमा है। आज ही के दिन महास्थविर महेन्द्र लंका पहुँचे थे।"

मेरे दिल को चोट लगी। आज के दिन मुझे भी महास्थविर महेन्द्र की याद क्यों न आई ! याद कैसे आती, आख़िर इन पंक्तियों का लेखक भी तो उसी आत्म-विस्मृत भारत की सन्तान है, जिसे न जाने संस्कृति के कितने महान् प्रचारकों की एकदम याद नहीं। भारत सभी को याद भी कहाँ तक रखे ! किन्तु महास्थविर महेन्द्र की याद बनाये रखना तो राष्ट्रीय कर्तव्य है।

× × ×

जम्बुद्वीप में प्रतिष्ठित हज़ारों विहारों का ध्यान धर महाराज अशोक ने महास्थविर मौग्गलिपुत्र तिस्स से पूछा—"भन्ते ! बुद्ध धर्म में किस का त्याग महात्याग है ?"

मौग्गलिपुत्र ने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"भगवान् बुद्ध के जीवन काल में भी तेरे सदृश कोई त्यागी नहीं था।"

सन्तुष्ट हुए राजा ने फिर पूछा—"क्या मेरे जैसे आदमी को धर्म का सगा [धम्मदायाद] कह सकते हैं ?"

स्पष्टवक्ता महास्थविर ने कहा—"राजन्! तुम्हारे जैसे महात्यागी को भी धर्म का सगा [धम्म-दायाद] नहीं कह सकते, दाता, दायक कह सकते हैं। लेकिन जो अपने लड़के और लड़की को धर्म में प्रव्रजित कराये उसे धर्म का दायाद और दायक दोनों कह सकते हैं।"

धर्म का दायाद बनने की इच्छा से महाराज अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा दोनों को बुलाकर पूछा—"तात! क्या प्रव्रज्या ग्रहण करोगे?"

"देव! यदि आपकी इच्छा हो तो हम आज ही प्रव्रजित हो सकते हैं। प्रव्रजित होने से हमारा और आपका दोनों का कल्याण है।"

बुद्धि और बल से युक्त महेन्द्र और संघमित्रा का प्रव्रज्या-संस्कार बड़े समारोह से हुआ।

धन्य थे वे दोनों जिन्होंने पिता की इच्छा-मात्र पर गृहस्थ-जीवन को त्याग दिया। प्रव्रज्या के समय महेन्द्र की आयु बीस वर्ष और संघमित्रा की अठारह वर्ष की थी।

× × ×

महामति महेन्द्र को प्रव्रजित हुये बारह वर्ष हो गये। उनके उपाध्याय महास्थविर मोग्गलिपुत्र तिस्स ने और संघ ने उन्हें मनोरम लंकाद्वीप में जाकर मनोज्ञ बुद्ध धर्म की स्थापना की आज्ञा दी थी। महेन्द्र ने सोचा कि इस समय लंका में वृद्ध मुटसिव का राज्य है, उसके पुत्र के सिंहासनारूढ़ होने पर लंका पहुँचूँगा। इस लिए वह उपाध्याय और संघ की वंदना कर अन्य चार स्थविरों तथा सुमन श्रामणेर को साथ ले दक्षिण-गिरि[1] की ओर चल पड़े। वहाँ से धीरे-धीरे विदिशा-गिरि[2] पहुँच अपनी माता के दर्शन किये।

स्थविर की माता का नाम था देवी। देवी की बहन का लड़का

---

१ राज गृह के पर्वतों का दक्षिण प्रदेश (बिहार प्रान्त)।

२ भिलसा से प्रायः तीन मील, वर्तमान बेसनगर रियासत ग्वालियर।

नामक लड़का स्थविर के उपदेश से अनागामि-फल[1] को प्राप्त हुआ और स्थविर के पास रहने लग गया।

महातेजस्वी महेन्द्र एक मास अपनी माता के पास रहे। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को वे चारों स्थविरों[2], सुमन, श्रामणेर[3], और भण्डु सहित आकाश-मार्ग से आकर लंका में रमणीय मिश्रक पर्वत के शील-कुट नामक शिखर में मनोहर अम्बस्थल पर उतरे।

लंकाहितैषी मुनी बुद्ध ने लंका के हित के लिए जिनके बारे में भविष्य-वाणी की थी, लंकावासियों द्वारा पूजित, लंका के लिए दूसरे बुद्ध सदृश, वे महेन्द्र भी आखिर लंका आ पहुँचे।

× × ×

सिंहल के राजा देवनांप्रिय तिष्य मिश्रक पर्वत पर शिकार खेल रहे थे। जिस प्रकार एक मृग रामचन्द्र जी को बहका कर कहाँ-का-कहाँ ले गया था, उसी प्रकार एक मृग राजा देवनांप्रिय तिष्य को भी बहका कर जहाँ स्थविर महेन्द्र खड़े थे, वहाँ ले आया। राजा देखकर शंकित हुआ। स्थविर ने कहा—"आओ तिष्य!"

'तिष्य' कहने से राजा ने उन्हें यक्ष समझा। स्थविर ने कहा—"महाराज! हम धर्मराज बुद्ध के श्रावक हैं; और आप ही पर अनुग्रह करने के लिए जम्बुद्वीप से यहाँ आये हैं।"

यह सुन और मित्र महाराज अशोक का सन्देश स्मरण कर राजा ने निश्चय किया कि ये सचमुच भिक्षु हैं। साथी भिक्षुओं की ओर देख, राजा ने पूछा—"ये सब कब आये?"

---

१ मोक्ष की सीढ़ी पर उस अवस्था को पहुँच जाना कि फिर दुबारा संसार में आना सम्भव न रहे।

२ ज्येष्ठ (कम-से-कम दस वर्ष का) भिक्षु स्थविर कहलाता है।

३ प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर भी जिसकी 'उपसम्पदा' नहीं हुई है, वह श्रामणेर कहलाता है।

स्थविर ने उत्तर दिया—"मेरे साथ ही।"

राजा—"क्या जम्बुद्वीप में इस प्रकार के और भी भिक्षु हैं।"

स्थविर—"जम्बुद्वीप काषाय वस्त्र से प्रज्वलित है। वहाँ इस समय बहुत सारे त्रिविद्य (तीनों विद्याओं के जानने वाले) सिद्ध, दिव्य श्रवणशक्ति वाले अर्हत भिक्षु रहते हैं।"

राजा—"भन्ते! आये कैसे?"

स्थविर—"न जल से, न स्थल से।"

राजा ने समझ लिया कि आकाशमार्ग से आये।

महास्थिविर ने राजा की परीक्षा लेने के लिए पूछा—"राजन्! इस वृक्ष का क्या नाम है?"

राजा—"भन्ते! इस वृक्ष का नाम आम्र है।"

स्थविर—"राजन्! इस वृक्ष को छोड़कर और भी आम्र-वृक्ष हैं।"

राजा—"बहुत से आम्र-वृक्ष हैं।"

स्थविर—"राजन्! इस आम्र-वृक्ष को तथा अन्य आम्र-वृक्षों को छोड़कर पृथ्वी पर और भी वृक्ष हैं?"

राजा—"भन्ते! बहुत हैं, किन्तु वह आम्र के नहीं।"

स्थविर—राजन्! इन अनाम्रवृक्षों और अन्य आम्र-वृक्षों को छोड़कर भी पृथ्वी पर क्या कोई वृक्ष हैं?"

राजा—"भन्ते! यही एक वृक्ष है।"

स्थविर समझ गये कि राजा बुद्धिमान् और पण्डित है।

इसी प्रकार और भी कई प्रश्नों द्वारा राजा की बुद्धि की जाँच करके स्थविर ने राजा को हस्तिपादोपम सुत्त का उपदेश दिया। यही उपदेश भगवान् बुद्ध के जीवन काल में आयुष्मान सरिपुत्र ने श्रावस्ती के लोगों को दिया था।

प्रातःकाल ही राजा स्थविरों के पास फूल लेकर पहुँचा, फूलों से उनकी पूजा कर उसने पूछा—"आनन्दपूर्वक तो रहे? उद्यान अनुकूल तो है?"

स्थविरों ने कहा—"महाराज! हम सुख से रहे, और उद्यान यतियों के अनुकूल है।"

तब राजा ने पूछा—"क्या संघ के लिए आराम या विहार ग्रहण करना योग्य है?"

योग्य और अयोग्य के ज्ञाता स्थविरों ने बुद्ध द्वारा वेणुवनाराम के प्रति-ग्रहण का वर्णन करके कहा—"हाँ! योग्य है।"

इसे सुन राजा और अन्य लोग बड़े सन्तुष्ट हुये।

तब स्थविरों की वन्दना करने के लिए पाँच सौ स्त्रियों सहित अनुला देवी भी आई। उन पाँच सौ स्त्रियों के साथ अनुला देवी ने राजा से कहा—"हे देव! हम भिक्षुणी बनाना चाहती हैं।"

राजा ने स्थविरों से प्रार्थना की—"आप इन्हें भिक्षुणी बनावें।"

स्थविर ने राजा को उत्तर दिया—"हमें, स्त्रियों को भिक्षुणी बनाने की आज्ञा नहीं। पाटलिपुत्र (पटना) में संघमित्रा नाम से विख्यात मेरी छोटी बहन एक बहुश्रुत भिक्षुणी है। आप हमारे पिता राजा अशोक के पास सन्देश भेजें कि संघमित्रा महाबोधि वृक्ष-राज की दक्षिण शाखा ले श्रेष्ठ भिक्षुणियों सहित यहाँ आ जाय। वही स्थविरी आकर इन स्त्रियों को भिक्षुणी बनायेगी।"

× × ×

महाबोधि और स्थविरी को मँगाने के सम्बन्ध में स्थविर महा-महेन्द्र की आज्ञा का स्मरण कर उसी वर्षा काल में एक दिन राजा ने अमात्यों से सलाह करके अपने भानजे अरिष्ट आमात्य को उस कार्य पर नियुक्त करने का विचार किया। राजा ने उसे बुलाकर पूछा—"तात! महाबोधि और संघमित्रा के लाने के लिए धर्माशोक के पास जा सकते हो?

"हे सम्मानदाता! उनको वहाँ से यहाँ लाने के लिए जा सकता हूँ, किन्तु वहाँ से यहाँ लौट आने पर मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा मिले।"

"ऐसा ही होगा" कहकर राजा ने उसे भेजा।

महा अरिष्ट भानजे ने राजा धर्माशोक के पास पहुँच राजा का सन्देश अर्पण कर फिर स्थविर का सन्देश कहा—

"राजश्रेष्ठ! आपके मित्र देवानांप्रिय तिष्य के भाई की स्त्री प्रव्रज्या की इच्छा करती हुई नित्य ही संयमपूर्वक रहती है। उसको प्रव्रजित करने के लिए भिक्षुणी संघमित्रा और उनके साथ महाबोधि की दक्षिण शाखा भी भेज दें।"

उसने स्थविर का यह वचन स्थविरी संघमित्रा से भी कहा। स्थविरी ने स्थविर के इस विचार को राजा अशोक के पास जाकर कहा।

राजा बोला—"अम्म! तुम्हें भी न देखकर पुत्र और नाती[1] के वियोग से उत्पन्न शोक को मैं कैसे सहूँगा?"

स्थविरी ने उत्तर दिया—"एक तो भाई की आज्ञा है। दूसरे प्रव्रजित होने वाले बहुत हैं। इसलिए मेरा वहाँ जाना ही योग्य है।"

महादेव अमात्य की राय ले राजा ने संघ से पूछा—"भन्ते! लंका में महाबोधि भेजनी चाहिये, अथवा नहीं?"

स्थविर मोग्गलिपुत्त ने उत्तर दिया—"भेजनी चाहिए।"

राजा सुनकर सन्तुष्ट हुआ।

आश्विन शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा के दिन महाबोधि की एक शाखा लंका पहुँची। दो सप्ताह बाद आश्विन कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन उसे सुन्दर रथ में स्थापित कर उसकी पूजा की गई। फिर एक सुन्दर मण्डप बनवाया गया और कार्तिक शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन महाशाल वृक्ष के नीचे पूर्व की ओर महाबोधि की स्थापना कर प्रति दिन उसकी अनेक प्रकार की पूजा होने लगी।

महाबोधि के आगमन के सत्रहवें दिन उसमें नये अंकुर निकल आये। महीपति ने उसे अपने राज्य में प्रतिष्ठित कर नाना प्रकार से उसकी पूजा कराई।

बारह सौ वर्ष से अनुराधपुर (लंका) में प्रतिष्ठित महाबोधि संसार का शायद सब से पुराना ऐतिहासिक वृक्ष है। वह इस बात का प्रतीक है कि भारत में न तो अब मूल बोधिवृक्ष रहा और न वह ज्ञान ही जिसे तथागत ने बोधिवृक्ष के नीचे प्राप्त किया था, किन्तु लंका में न केवल उस बोधिवृक्ष की शाखा लहलहा रही है, बल्कि तथागत का वह धर्म भी फूल-फल रहा है, जिसकी महामहेन्द्र ने स्थापना की थी।

× × ×

अपनी सम्पूर्ण आयु का लगभग आधा भाग लंकावासियों के हित में बिताकर चैत्य पर्वत पर वर्षों वास करते हुये साठ वर्ष की आयु में महस्थविर ने निर्वाण प्राप्त किया। अनुराधपुर की चप्प-चप्पा ज़मीन लंका-वासियों को महास्थिविर और उनके उपकारों का स्मरण कराती है।

जिस स्थान पर ऋषि महेन्द्र की देह का अन्तिम संस्कार हुआ था, कृतज्ञ सिंहल जाति आज भी उस स्थान को इसिभूमंगल (ऋषि-भूमि-अंगन) कहती है और वहाँ श्रद्धा के फूल चढ़ाती है।

१९

चिनिया बाबा

कुछ वर्ष पूर्व मैं साल में एक दो बार कुसीनगर हो आया करता था, किन्तु इधर जबसे राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के जुये में जुता, कुसीनगर न जा पाया। लगभग छः-सात वर्ष बाद पूज्य महास्थविर चन्द्रमणी का 'आज्ञापत्र' मिला कि कुसीनगर हो आओ। चार-पाँच दिन वहाँ रहकर आज ही वापिस लौट रहा हूँ।

अधिकांश पाठक यह जानते होंगे कि देवरिया से बाइस मील और गोरखपुर से बत्तीस मील की दूरी पर माथा-कुंअर नाम का जो स्थान है, वही भगवान् बुद्ध की परिनिर्वाण-भूमि है। माथा-कुंअर शब्द की ठीक व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं। कुछ लोग उसे मृतकुमार-मतकुमार-माथा कुंअर समझते हैं। आरम्भ में विद्वानों को इस स्थान के भगवान् बुद्ध की परिनिर्वाण-भूमि होने में संदेह था। बाद में जब माथाकुंअर के विशाल-स्तूप में से एक कलसा और ताम्रपत्र मिला, जिस पर लिखा हुआ था कि यही परिनिर्वाण-स्तूप है, तो विद्वानों का संदेह मिटा।

महापरिनिर्वाण-स्तूप से कोई डेढ़ मील की ही दूरी पर वह स्थान है जिसे आसपास के लोग 'रामा-भर' कहते हैं। बौद्धों के अनुसार यह मुकुट चैत्य है और यहीं भगवान् बुद्ध की दाह-क्रिया हुई थी। कुसीनगर के तीर्थ-यात्री 'रामा-भर' भी प्रायः जाते ही हैं।

मिट्टी की एक छोटी-सी पहाड़ी। चारों ओर खासा जंगल। ऊपर विशाल बरगद का पेड़। यही 'रामा-भर' है। यहाँ कौन रहता है?

अनेक जंगली जीव-जन्तुओं के बीच चीन-देश के एक और अकेले बौद्ध साधु, जिन्हें आसपास के लोग 'चिनिया-बाबा' कहते हैं।

गाय-बैल चराने वाला जो लड़का हमें 'रामा-भर' का रास्ता दिखाने के लिए साथ था, मैंने उसी से चिनिया-बाबा के बारे में पूछा—चिनिया-बाबा अभी हैं न ?

"हाँ"

"गाँव में भिक्षा माँगने आते हैं ?"

"इधर उन्होंने अपने सब दाँत तुड़ा दिए हैं जिसमें दाल, भात, रोटी न खानी पड़े।"

"तब क्या खाते हैं ?"

"यही संतरे और दूसरे फल ?"

"कहाँ से पाते हैं।"

"आ जाते हैं।"

मेरा कुतूहल बढ़ा। अजब आदमी हैं, 'चिनया बाबा' संतरे खाने के लिए दाँत तुड़ा डाले !

बात करते-करते हम ऊपर जा पहुँचे। देखा चिनिया बाबा' अपनी कुटिया में नहीं हैं। दरवाजे पर ताले का लगा होना भी उनके न होने का प्रमाण नहीं। कभी-कभी वह भीतर बैठकर भी बाहर ताला लगा लेते हैं और प्रायः बरगद की टहनियों के बीच बहुत ऊपर जो उन्होंने अपने लिए एक 'घोंसला' सा बना रखा है, उस पर चढ़े रहते हैं।

सौभाग्य से वह दूसरी ओर छोटे-से कुएं पर नहाते हुए दिखाई दे गए। नहाना समाप्त हो चुका था। कपड़े बदल रहे थे। मैंने सोचा, यहीं खड़े रहकर उनके आने की प्रतीक्षा की जाय।

गागर हाथ में लिये हुए वह दौड़ते हुए उस पहाड़ी-सी पर चढ़ आए। हमें रस्ते में खड़े देखकर थोड़ी देर के लिए रुके। बोले—

"सिलोनी बाबा ?"

"नहीं।"

"बरमी बाबा !"

"नहीं"

"तो ?"

"हिन्दुस्तानी ।"

उन्हें जैसे विश्वास नहीं हुआ। हिन्दुस्तान में बौद्ध साधु कहाँ हैं। बिना कुछ कहे-सुने ऊपर चढ़ गए।

मुझे कुछ ऐसा लगा कि जैसे मैंने किसी एक्सप्रेस ट्रेन को गलती से पैसेंजर गाड़ी समझ लिया और मैं प्लेटफार्म पर उसके आकर खड़े होने की प्रतीक्षा करता रहा। वह आई और बिना प्लेटफार्म पर रुके चली गई।

किन्तु थोड़ी ही देर में देखता क्या हूँ कि चिनिया-बाबा ढंग से कपड़ा पहने नीचे उतरे चले आ रहे हैं। उन्हें उतरता देख हम भी चलते-चलते रुक गए।

चिनिया बाबा ने अब फुरसत से बातचीत शुरू की। मेरे बारे में कहाँ से आया हूँ, और कहाँ रहता हूँ इत्यादि जिज्ञासा शान्त करने के बाद रेल के किरायों के बारे में पूछने लगे। अमुक जगह का पहले इतना किराया था, अब कितना होगा? मैं डेढ़ा, दुगुना करके अंदाजे से बताता गया। फिर चीजों के बारे में पूछने लगे—किस चीज का क्या भाव है? साग, सब्जी, मकई, ज्वार, बाजरा का भाव उन्हें ज्ञात था। मैं सोचता था कि इन्हें इन सबसे क्या मतलब, क्योंकि उनके मुँह में सचमुच एक भी दाँत नहीं था। मैंने पूछा—बाबा! दाँत क्यों निकलवा दिए? बोले—डाक्टरों ने कहा—निकलवा दिए।

"तो अब खाते क्या हैं?"

"मकई, ज्वार, बाजरा सब-कुछ खाते हैं।"

मैं हैरान था। मुँह में एक दाँत नहीं और "मकई, ज्वार, बाजरा, सब-कुछ खाते हैं!" चिनिया बाबा—"पहले छः महीने नहीं खा सकते थे। पचता नहीं था। अब सब कुछ पचता है।"

खाद्य-वस्तुओं के भावों के बारे में उनकी प्रबल जिज्ञासा का अर्थ मेरी समझ में आया।

बीच में मैंने लैंप जलाने के बारे में पूछा। बोले—तेल बहुत मँहगा है। इसलिए नहीं जलाते हैं।

ऐसा लगा कि वह प्रातःकाल एक बार भोजन बना लेते हैं और खा लेते हैं। जलावन की लकड़ियाँ उनकी कुटि के इर्द-गिर्द एक सिल-सिले से रखी थीं।

उनका कहना था कि एक महीने तक यदि वह केवल पानी पीते रहें, तो मरेंगे नहीं।

मैं उनकी आयु की ओर देखता, जो लगभग ६० वर्ष के लगते थे, उनके बेदांती-मुँह की ओर देखता था जिसमें एक भी दाँत न था; उनके आहार की ओर देखता, जो मकई, ज्वार, बाजरा और कद्दू या भंटे की तरकारी-भर था और देखता था उनके हृष्ट-पुष्ट मांसल शरीर को।

रह-रहकर यही प्रश्न उठता था कि इनके स्वास्थ्य का रहस्य क्या है? उत्तर यही मिलता कि शुद्ध खुली वायु में सोलह आने प्राकृतिक जीवन।

उस दिन गोरखपुर के अधिकारियों ने चाहा था कि चिनिया बाबा वहाँ न रहें। चिनिया बाबा का उत्तर था कि इतने साँप-बिच्छू और दूसरे जंगली जानवर वहाँ रह सकते हैं, केवल मैं नहीं रह सकता।

चिनिया बाबा वर्षों से अपनी जगह पर मजे से रहते हैं और प्रसन्न-चित्त। उनका हँसना है कि एक मील से सुनाई देता होगा।

हम लौटे तो सूर्यास्त हो चुका था। चिनिया बाबा ऊपर खड़े-खड़े हमारी ओर देखते रहे और हम उनकी ओर। मेरे साथी वीरेन्द्र ने कहा—क्या दिव्य-दर्शन है!

२०

गांधीजी और समय का मूल्य

जिन लोगों को गांधीजी के आसपास रहने अथवा मेरी तरह दो-चार बार ही मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उन्हें गांधीजी के अन्य अनेक गुण दिखाई दिये हों अथवा न दिखाई दिये हों किन्तु उनका 'समय के मूल्य' का धनी होना दिखाई दिया ही होगा। व्यर्थ विचार और व्यर्थ वार्तालाप ही में हमारे जीवन का अधिकांश समय नष्ट हो जाता है। गांधीजी अपने से और दूसरे से अपने हर मिनिट की पूरी कीमत वसूल करते थे।

मैं जब पहिली बार सेवाग्राम गया, तो मुझे याद है, मैंने मशु-वालाजी से पूछा—'बापू के दर्शन कब और कहाँ हो सकेंगे?' मशु-वालाजी ने उत्तर दिया—'अभी छः बजने वाले हैं। बापू ठीक छः बजे सैर को निकलते हैं।' मैं घड़ी लेकर बैठ गया। देखता क्या हूँ कि इधर मेरी घड़ी की दोनों सुइयों ने एक सीधी लकीर बनाई और उधर लड़कियों के कन्धों पर हाथ रखे हुए बापू सड़क की ओर बढ़ते हुए दिखाई दिये।

उस समय मुझे ऐसा लगा कि एक सूर्य अस्त हो रहा है, और दूसरा उदय हो रहा है।

आदमी वर्षों से नहीं जीता। जो लोग समझते हैं कि बापू ७९ वर्ष की ही आयु में प्रस्थान कर गये अथवा वे १२५ वर्ष नहीं जीये वे गलती पर हैं। बापू सैकड़ों वर्ष जीए हैं। अपनी सैकड़ों वर्ष की आयु

भोगकर भी उतना नहीं जी सकते जितना बापू अपनी ७९ वर्ष की आयु में जी गये हैं।

एक आदमी धौंकनी की तरह सांस लेता हुआ, व्यर्थ खाता-पीता हुआ अपना जीवन व्यतीत कर देता है। वह जीना भी कोई जीना है!

प्रत्येक क्षण के प्रति पूरी जागरूकता, प्रत्येक कल्याणकारी भावना के प्रति पूरी संवेदनशीलता का ही नाम जीना है। बापू का जीना ऐसा ही जीना था।

धम्मपद के सहस्सवग्ग की कुछ गाथाएँ इस प्रकार हैं—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो॥
यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो॥
यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दळ्हं॥
यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयव्ययं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयव्ययं॥
यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं॥
यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं॥

[दुराचारी और असमाहित (एकाग्रतारहित पुरुष) के सौ वर्ष के जीवन से सदाचारी और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है ॥१॥ दुष्प्रज्ञ और असमाहित के सौ वर्ष के जीवन से प्रज्ञावान और ध्यान का एक दिन का जीना श्रेष्ठ है ॥२॥ आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़ उद्योग करने वाले का एक दिन का जीना श्रेष्ठ है ॥३॥ (सांसारिक वस्तुओं के) उत्पत्ति और विनाश पर विचार न करते हुए सौ वर्ष के जीवन से इन पर विचार करते हुए एक दिन का जीना श्रेष्ठ

है ॥४॥ अमृत पद (निर्वाण) को न देखते हुए सौ वर्ष के जीने से अमृत पद को देखते हुए एक दिन का जीना श्रेष्ठ है ॥५॥ उत्तम धर्म को बिना जाने सौ वर्ष के जीने से उत्तम धर्म का जानकार होकर एक दिन का जीना श्रेष्ठ है ॥६॥

२१

भाई परमानन्द

अभी एक सप्ताह भी नहीं हुआ, पत्रों में पढ़ा था कि भाई परमानन्द जी लाहौर के हत्याकाण्ड के दिनों में हरिद्वार या देहरादून में थे और अब जालन्धर में सुरक्षित हैं।

और यह क्या? कुल दो ही दिन के भीतर पढ़ा कि भाई जी का जालन्धर में स्वर्गवास हो गया! कौन जानता है कि कल ही मरना हो।

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं,
सामान सौ बरस के कल की खबर नहीं।

इन पंक्तियों के लेखक को देवता-स्वरूप भाई परमानन्द का विद्यार्थी रहने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। वे लाहौर में कौमी महाविद्यालय (नेशनल कालेज) में यूरोपियन-इतिहास के प्रोफेसर थे। उस दिन किसी ने दिल्ली में मेरा परिचय देते हुए कहा कि भाई परमानन्द के दो शिष्यों में से एक सरदार भगतसिंह हिंसा के मार्ग के अनुयायी बन गये, दूसरा आनन्द कौसल्यायन अहिंसा के मार्ग का। सचमुच भाई परमानन्द की देशभक्ति हिंसा और अहिंसा के वादों से ऊपर की चीज थी।

जिन दिनों हम उनसे पढ़ते थे, शायद ही कभी कोई लड़का उनके हाथों फेल हो पाता। दस में से नौ नम्बर तो बहुत लड़कों को मिल जाते थे। जरा-सा भी कुछ पढ़-लिख आता तो भी आठ नम्बर मिल जाते। वे कहा करते थे कि विद्यार्थी की असली परीक्षा जीवन में होती

है; जिसे पास होना होगा पास होगा, जिसे फेल होना होगा फेल होगा, मैं क्यों किसी को पास-फेल करूँ ?

उनके व्याख्यान कालेज के शुष्क व्याख्यान न होते थे। जिस दिन गेरिबाल्डी और मेज़िनी जैसा कोई प्रकरण आ जाता, उस दिन विद्यार्थियों के रोंगटे खड़े हो जाते।

अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में वे आर्य-समाज के मिशनरी की हैसियत से विदेशों में आर्य धर्म का प्रचार करते रहे, उसके बाद अण्डमान के 'काला-पानी' में। १९२२ के असहयोग-आन्दोलन के समय से वह राष्ट्रीय-महाविद्यालय के लगभग अन्तिम दिनों तक उसमें प्रोफेसर रहे।

भाई जी की राष्ट्रीयता किसी एक राजनीतिक दल-विशेष की राष्ट्रीयता नहीं थी। अपने जीवन के पिछले कुछ वर्षों में उनका मत रहा कि महात्मा गान्धी के नेतृत्व में, हमारी कांग्रेस मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति के गलत रास्ते पर जा रही है। उन्होंने गांधी जी की और कांग्रेस की कड़ी-से-कड़ी आलोचना की—इतनी कड़ी कि देशभक्ति के कुछ ठेकेदार लोग उन्हें देश का शत्रु ही कहने और समझने लग गये।

प्रयाग से ही किसी समय प्रकाशित होने वाले 'हिन्दुस्तान' नाम के साप्ताहिक में एक बार किसी ने भाई परमानन्द को अनेक गालियाँ देते हुए एक लेख छाप दिया था, और उसका लेखक बना दिया था, भिक्षु आनन्द कौसल्यायन एम० ए० को। तब मुझे सम्पादक को कानूनी कार्रवाई की धमकी देकर पूछना पड़ा था कि यह कौन है जो भिक्षु भी है, आनन्द कौसल्यायन भी है, एम० ए० भी है (मैं एम० ए० नहीं हूँ) और मुझसे भिन्न भी है। सम्पादक को क्षमा-याचना करनी पड़ी थी।

आज न जाने कांग्रेस में कितने लोग हैं जो कांग्रेस की मुस्लिम-तुष्टिकरण नीति से असन्तुष्ट हैं, और खुले आम उसकी आलोचना करते हैं। किन्तु ऐसे लोगों के अग्रणी थे देवता-स्वरूप भाई परमानन्द ही।

हाँ, उनसे शायद यह उनके जीवन की सबसे बड़ी गलती हो गई कि वह कांग्रेस के अन्दर नहीं रहे, कांग्रेस के बाहर रहकर कांग्रेस की कटु आलोचना करते रहे।

इसका परिणाम यही होगा न कि 'कांग्रेस-भक्तों' की सूची में देवता-स्वरूप भाई परमानन्द का नाम न लिखा जायगा? तो क्या देश-भक्तों की सूची से भी इतिहास उनका नाम मिटा सकेगा?

उनकी स्मृति को बार-बार नमस्कार है।

२२

दस रुपये का नोट

सन् २६ की बात है। बच्छोवाली आर्यसमाज (लाहौर) में एक व्याख्यान सुना था, पण्डित धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि का। "मैं रुपयों का हिसाब-किताब नहीं रखता। यदि मैं रुपयों का ही हिसाब-किताब लिखने में लगा रहूँ तो फिर आत्मा की उन्नति-अवनति का हिसाब कौन रखेगा?" मुझे बात बड़े पते की लगी। रुपये होते तो रुपयों का हिसाब-किताब रखने की चिन्ता होती, हाँ आत्मा का हिसाब-किताब रखने की चिन्ता अवश्य सवार हो गयी।

बहुत वर्षों बाद गांधीजी का लिखा कहीं पढ़ा—"जो पाई तुम्हारी जेब में आये-जाये उसका हिसाब अवश्यमेव रखा जाय।"

दो विरोधी मत सामने थे। मैंने मध्यम मार्ग निकाला—निजी पैसों का हिसाब-किताब न रखना, सार्वजनिक पैसों का हिसाब-किताब अवश्य रखना।

बहुत दिन ऐसे ही चलने पर बात समझ में आयी कि हिसाब के मामले में निजी और सार्वजनिक कुछ नहीं होता। हिसाब हिसाब है। जो आदमी निजी पैसे बेहिसाब खर्च करता है, वह सार्वजनिक पैसे भी बेहिसाब खर्च कर सकता है। फिर यदि निजी पैसे और सार्वजनिक पैसे पृथक्-पृथक् न रखे जायं, तो एक हिसाब न रखने पर दूसरा हिसाब भी बपले में पड़ जा सकता है। इसलिए अनुभव की पाठशाला में सीखे गये इस पाठ के अनुसार मैंने—क्या निजी और क्या सार्व-

जनिक—पाई-पाई का हिसाब रखना आरम्भ किया।

लोग अपनी-अपनी दैनंदिनी अर्थात् डायरी से शाम को भेंट करते हैं, तो उसमें तरह-तरह की बातें दर्ज रहती हैं। कोई आत्मा की उन्नति-अवनति का लेखा रखता है, तो कोई जो दिन में देखता-सुनता है उसे दर्ज कर लेता है। मेरी डायरी में रहते हैं केवल रुपये-आने-पाई।

अभ्यास आदमी की प्रकृति का दूसरा नाम है। चाहता हूँ कि मेरे आसपास के लोग भी हिसाब रखा करें, किन्तु जिसे देखता हूँ उसे ही आलस्य मालूम देता है। एक मैं हूँ कि दिन में कई बार हिसाब लिखता हूँ और रात में बिना रोकड़ मिलाये सो ही नहीं सकता।

बनियों की बात प्रसिद्ध है कि वह एक पैसे की रोकड़ मिलाने के लिए चार आने का तेल खर्च कर सकते हैं। अपनी भी रोकड़ कभी-कभी नहीं मिलती, और बिना रोकड़ मिलाये कुछ पैसे बट्टे खाते लिखकर भी सो ही जाना पड़ता है। तो भी रोज-रोज बिना रोकड़ मिलाए न सोने से अपनी हिसाब करने और रखने की आदत पड़ गयी है और कुछ-कुछ स्वभाव में परिणत हो गयी है।

इसी महीने की आठ तारीख को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष श्री वियोगी हरि जी के साथ मैं पटने से लौट रहा था। वियोगी हरि जी ने अपना टिकट और अपने ज्येष्ठ पुत्र 'शिशु' का टिकट पहले ही ले लिया था। मुझे जमशेदपुर जाना था। इसलिए उनके साथ टिकट न लेकर आज ही प्रातःकाल खरीदा। इस यात्रा में क्योंकि मैं हरिजी के साथ था और सम्मेलन के काम से था इसलिए हरिजी के साथ मेरा भी हिसाब चिरंजीव भगवतदत्त 'शिशु' ही रख रहे थे। मेरे बारे में तै न था कि मुगलसराय तक हरि जी का साथ दूँगा अथवा प्रयाग तक साथ चल सकूँगा। बार-बार टाइम-टेबल देखकर तै किया जा रहा था कि मैं किसी गाड़ी से मुगलसराय से सीधा लखनऊ भी जा सकता हूँ

था नहीं ? इस बीच श्री भगवतदत्त ने कहा—"तो अपना हिसाब तो कर लें।"

"हाँ यह आवश्यक है।"

"लें यह टिकट के पैसे ले लें।"

उन्होंने एक दस रुपये का नोट दिया। वह मेरे हाथ में ही था तब तक भगवतदत्तजी बोले—"राहुलजी की आत्मकथा का क्या दाम होगा ?"

"ठीक याद नहीं। दस रुपये के भीतर होगा।"

"आप मेरे लिए एक प्रति भिजवा सकेंगे ?"

"मैं दिल्ली जा ही रहा हूँ। लेता आऊँगा।"

"तब लेते आइयेगा।"

"पुस्तक सचमुच मँगानी है तो दस रुपये लगे हाथ दे दो। उससे तबियत पर एक भार पड़ जायगा और पुस्तक लानी न भूलूँगा।"

भगवतदत्त ने तुरन्त दस रुपये निकाल कर दे दिये। मेरे रात के हिसाब की रोकड़ लिखी थी ११७।≈)।।। (एक सौ सतरह रुपये छः आने तीन पैसे)। उनमें दस रुपये और दस रुपये कुल बीस रुपये यह मिले। जोड़ हुआ १३७।≈)।।। (एक सौ सैंतीस रुपये छः आने तीन पैसे) किन्तु यह क्या, मेरे बटुवे में होते हैं कुल एक सौ सत्ताईस छः आने तीन पैसे। एक-दो बार नहीं, कई बार गिने गये। हर बार एक सौ सत्ताइस रुपये छः आने तीन पैसे। अभी तो भगवतदत्त ने दस-दस रुपये के दो नोट दिये हैं। एक कहीं इधर-उधर रखा गया होगा। किन्तु कहाँ रखा गया ? जिस बिस्तरे पर बैठे थे उसकी सारी नंगा-झोली ले डाली। दस रुपये के नोट का कहीं पता नहीं था। वहाँ बैठे हम तीनों के अतिरिक्त एक और सज्जन थे। वह भी तलाश में शामिल हुए। परन्तु दस रुपये का नोट था कि 'पर' लगा कर उड़ गया था। गया तो कहाँ गया ? खिड़की से बाहर चला गया ? किन्तु हवा तो बाहर से अन्दर आ रही थी। जब तक जान-बूझकर बाहर न फेंक दिया गया हो

तब तक उसके बाहर जाने की सम्भावना न थी। तो आखिर गया कहाँ? राहुल जी की एक बात याद है। कहते थे—"कमरे में ताला लगाकर रखना चाहिये। चीजें चोरी चली जाने की उतनी चिन्ता नहीं, चिन्ता है, बहुधा अनेक लोगों को मन में चोर बनाना पड़ता है। पता नहीं हरि जी क्या सोच रहे होंगे। भगवतदत्त उनका कुन्दन-सा तपा हुआ ज्येष्ठ पुत्र। वह दस रुपये लेगा! छिः ऐसे विचार को भी मन में स्थान देने से पाप लग सकता है। मैं नहीं जानता कि हरि जी क्या सोच रहे हैं—कुछ-न-कुछ अवश्य, अधिक चिन्तित न सही चिन्ताशील तो हम सभी थे। रुपयों से ज्यादा हैरानी इस रहस्य की थी कि आखिर रुपये क्या हो गये? मेरे मन में एक-आध बार आया कि है तो 'शिशु' किन्तु भगवतदत्त ने ही मुझे छकाने के लिए नोट को कहीं इधर-उधर न रख दिया हो! किन्तु उसके चेहरे की सर्वाधिक चिन्ता मेरी इस आशंका को दूर करने के लिए पर्याप्त थी। एक बार मैं बाथ रूम की ओर बढ़ा तो साथ बैठे सज्जन की खुली जेब पर नजर पहुँची। वहाँ एक नोट-सा कुछ दिखाई दिया। कहीं यही तो अपना नोट नहीं? हो भी तो उस हैट कोट-पैन्टधारी सज्जन से जो चार अंग्रेजी किताबें हाथ में लिये थे पूछा थोड़े ही जा सकता है। हाँ कोई गरीब आदमी होता तो बात दूसरी थी। उस की तो नंगाझोली तक ली जा सकती थी!

तब नोट गया तो कहाँ गया? मैं बार-बार अपने नोटों को गिनता कि कहीं गिनती में तो हर बार कोई गलती नहीं होती जा रही है। कुल जमा एक सौ सत्ताइस रुपये के दस बारह नोटों को ही तो गिनने की बात थी। ऐसी भी क्या गलती! ऐसा भी क्या अन्धेर कि हर बार गलती हो जाय।

तो आखिर क्या हुआ? दस रुपये का नोट गया कहाँ?

हर चीज की कोई हद होती है। ढूंढते-ढूंढते जब हम थक गये, जहाँ तनिक सम्भावना नहीं थी, ऐसी सब जगहों को भी अच्छी तरह देख-भाल लिया तो हारकर मैं सो गया।

आज के दिनों में दस रुपये की गिनती ही क्या है, किन्तु उनका खोया जाना—खोया जाना ही नहीं छू मन्तर हो जाना !

खैर सोने का इरादा करते ही नींद आ गयी। कोई एक घण्टे बाद आँख खुली। मैंने तुरन्त ताली बजाई। यह इस बात का संकेत था कि रुपये मिल गये। हरिजी बोले—"कहाँ ?"

"प्रातःकाल जो टिकट दस रुपये का लिया है, वह पैसे तो लिये ही नहीं गये।"

"यह आपकी मौलिक खोज नहीं है। भगवतदत्त इस से पहले ही पता लगा चुका है।"

"मैं ही नहीं, मेरे साथ सभी मेरी इस भूल पर दंग थे।

किन्तु अब हम सब प्रसन्न थे और थे निश्चिन्त !

२३

बुद्ध और गांधी के अंतिम संस्कार

नागिरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित शब्द-सागर ही शायद हिन्दी का सब से बड़ा कोष है। उस में ९३११५ शब्द होंगे। किन्तु इतने हजार शब्दों में क्या एक भी शब्द ऐसा है जो इस देश की वेदना की उस तीव्रता को व्यक्त कर सके जो हम अपने राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी को गँवा कर हुई ?

कहा जाता है कि नाथूराम गोड्से एक पत्रकार रहा। इससे हर पत्रकार लज्जित है। सुनते हैं कि वह ब्राह्मण भी है, इससे हर ब्राह्मण जमीन में गड़ा जा रहा है। वह हिन्दू है; यह हर हिन्दू के लिए डूब मरने की बात है। वह भारतीय है; भारत माता उस कलंकी को जन्म देने के कारण अनुतप्त है। भारतीयता ही नहीं सारी मानवता पर लगे अभिशाप का दूसरा नाम है नाथूराम गोड्से।

हमें लगता है कि जिस प्रकार इस देश में कोई भी रावण कहलाना पसन्द नहीं करता, विभीषण कहलाना पसन्द नहीं करता है उसी प्रकार भविष्य में कोई अपना नाम नाथूराम भी रखना पसन्द न करेगा।

किन्तु इस महान् पातक का दूसरा पहलू भी है। इस पातक ने महान बापू को और भी महान सिद्ध कर दिया। देश में भभकती हुई साम्प्रदायिकता की आग की शान्ति के लिए कदाचित स्वयं राष्ट्रपिता की बलि अपेक्षित थी। अब तो यह द्वेषाग्नि शान्त हो।

बापू के बलिदान के बाद देश में जो-कुछ हुआ है वह सभी कुछ अभूतपूर्व है। बलिदान-दिवस से आज तक इस महान राष्ट्र ने ही नहीं अन्य राष्ट्रों ने भी 'हाय बापू' कह कर जितने ठंडे सांस लिये उतने इससे पहले काहे को कभी किसी बड़ी-से-बड़ी विभूति की याद में भी लिये गये होंगे। यमुना तट पर का दाह-करण-संस्कार गंगा, यमुना तथा सरस्वती के संगम में बापू की अस्थियों का प्रवाह और देश-भर की सभी पवित्र नदियों का बापू की भस्म का अधिकारी होना हमें भगवान् बुद्ध के अन्तिम संस्कार की याद दिलाता है। पाली वाङ्मय में इस प्रकार दर्ज है:—

१—अन्तिम वचन

"तब भगवान ने आयुष्मान आनन्द से कहा—"आनन्द ? शायद तुमको ऐसा हो—(१) अतीत शास्ता (=चले गये गुरु) का यह उपदेश है, अब हमारा शास्ता नहीं है। आनन्द इसे ऐसा मत समझना, मैंने जो धर्म और विनय विहित किये हैं मेरे बाद तुम्हारे शास्ता (=गुरु) हैं।..........।(२) इच्छा होने पर संघ मेरे बाद छोटे-मोटे भिक्षु नियमों को छोड़ दे सकता है।"

तब भगवान ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—"भिक्षुओ ! यदि बुद्ध, धर्म-संघ में एक भिक्षु को भी कुछ शंका हो, तो पूछ लो। भिक्षुओ ! पीछे अफसोस मत करना—शास्ता हमारे सम्मुख थे किन्तु हम भगवान के सामने कुछ पूछ न सके।"

किसी एक भी भिक्षु को कोई शंका न थी।

तब भगवान ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—'हन्त ! भिक्षुओ अब तुम्हें कहता हूँ। सभी संस्कार नाशवान हैं। अप्रमाद के साथ (आलस्य-रहित होकर) जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करो।' यही तथागत के अन्तिम वचन हैं।

२—निर्वाण

तब भगवान प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए।...चतुर्थ ध्यान से उठने के अनन्तर भगवान परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के परिनिर्वाण होने पर निर्वाण होने के साथ भीषण, लोम हर्षण भूचाल हुआ। देव दुन्दुभियाँ बजीं। उस समय ब्रह्मा ने कहा—

'संसार के सभी प्राणी जीवन से गिरेंगे। जब कि लोक में ऐसे बल-प्राप्त अद्वितीय पुरुष, 'तथागत, शास्ता, बुद्ध परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

उस समय देवेन्द्र शक्र ने कहा—"अरे संस्कार उत्पन्न और नष्ट होने वाले हैं।

जो उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं, उनका शान्त होना ही सुख है।

भगवान के परिनिर्वाण हो जाने पर जो अवीतराग भिक्षु थे, उन में कोई बाँह पकड़ कर क्रन्दन करते थे, कटे वृक्ष के सदृश्य गिरते थे, धरती पर लोटते थे—भगवान बहुत जल्दी परिनिर्वृत्त हो गये। किन्तु जो वीतराग भिक्षु थे वह स्मृति—सम्प्रजन्य के साथ स्वीकार करते थे—'संस्कार अनित्य, (वियोग का ही) ये कहाँ मिलेगा।'

तब आयुष्मान अनुरुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—"नहीं आवुसों। शोक मत करो, रोदन मत करो।"

भगवान ने तो आवुसों! यह पहिले ही कह दिया है—'सभी प्रियों से जुदा होना है।'

आयुष्मान अनुरुद्ध और आयुष्मान आनन्द ने वह बाकी रात धर्म-कथा में बिताई। तब आयुष्मान अनुरुद्ध ने आयुष्मान आनन्द से कहा—"जाओ, आवुस आनन्द! कुसीनारा में जाकर, कुसीनारा के मल्लों से कहो—'वशिष्ठो! भगवान परिनिर्वृत्त हो गये अब जो तुम्हें करना उचित लगे वह करो।"

'अच्छा भन्ते'! कह आयुष्मान आनन्द कुसीनारा में प्रविष्ठ हुए।

उस समय किसी काम से कुसीनारा के मल्ल, संस्थागार (प्रजातन्त्र-सभा-भवन) में जमा थे। आयुष्मान आनन्द वहीं जाकर बोले—"वाशिष्ठो! भगवान परिनिवृत हो गये अब जो तुम्हें करना उचित लगे वह करो।"

आयुष्मान आनन्द से यह सुना तो मल्ल, मल्ल-पुत्र, मल्ल-बधुयें, मल्ल-भार्यायें दुखित हो क्रन्दन करने लगीं। कोई केशों को बिखेरकर रोती थीं, बाँह पकड़कर रोती थीं, कटे वृक्ष की भाँति गिरती थीं, धरती पर लुण्ठित-विलुण्ठित होती थीं"—बड़ी जल्दी भगवान का निर्वाण हुआ, बड़ी जल्दी सुगत का निर्वाण हुआ, बड़ी जल्दी लोक-नेत्र अन्तर्धान हो गये।"

तब कुसीनारा के मल्लों ने पुरुषों को आज्ञा दी—"तो भणे! कुसीनारा की सभी प्रकार की गंध-मालायें और सभी वाद्यों को जमा करो।"

तब कुसीनारा के मल्ल गंधमाला, सभी वाद्यों और पाँच हजार थान जोड़ों को लेकर जहाँ उपवत्तन था, जहाँ भगवान का शरीर था वहाँ गये। जाकर उन्होंने भगवान के शरीर को नृत्य, गीत-वाद्य माला, गंध से सत्कार करते पूजते कपड़े का मंडप बनाते दिन बिता दिया। तब कुसीनारा के मल्लों के मन में आया—भगवान के शरीर के दाह करने को आज बहुत विकाल हो गया। अब कल भगवान के शरीर का दाह करेंगे। इस प्रकार कुसीनारा के मल्ल सात दिन तक भवान के शरीर की सत्कार-पूजा ही करते रहे। सात दिन के बाद कुसीनारा के मल्लों ने नगर से उत्तर-उत्तर से ले जाकर जहां मुकुट-बन्धन नामक मल्लों का चैत्य था, वहाँ भगवान का शरीर रखा। तब कुसीनारा के मल्लों ने आयुष्मान आनन्द से पूछा—

"भन्ते! आनन्द! हम तथागत के शरीर को कैसे करें?"

"वशिष्ठो! जैसे चक्रवर्ती राजा के शरीर को करते हैं वैसे ही तथागत के शरीर को करना चाहिये।"

"कैसे भन्ते ! चक्रवर्ती राजा के शरीर को कैसे करते हैं ।"

"वशिष्ठो ! चक्रवर्ती राजा के शरीर को नये वस्त्र से लपेटते हैं; नये वस्त्र से लपेटकर धुनी रुई से लपेटते हैं। धुनी रुई से लपेटकर नये वस्त्र से लपेटते हैं। इस प्रकार लपेटकर तेल की लोह द्रोणी-(=दोन) में रखकर दूसरी लोह द्रोणी से ढाँक कर, सभी सुगन्धित लकड़ियों की चिता बनाकर राजा चक्रवर्ती के शरीर को जलाते हैं; जलाकर बड़े चौरस्ते पर उसका स्तूप बनाते हैं। इमें भी तथागत का स्तूप बनवाना चाहिये। वहाँ जो माला, गंध या चूर्ण चढ़ायेंगे, या अभिवादन करेंगे, या चित्त को प्रसन्न करेंगे, उनके लिए वह चिरकाल तक हित-सुख के लिए होगा।"

तब कुसीनारा के मल्लों ने भगवान के शरीर को कोरे वस्त्र से लपेटकर धुनी रुई से लपेटा, धुनी रुई से लपेटकर कोरे वस्त्र से लपेटा फिर तांबे (=लोह) की तेलवाली कड़ाई में रख (=चन्दन आदि) सुगंधित काष्ठों की चिता बनाकर भगवान के शरीर को चिता कर रक्खा।

तब तब आयुष्मान महाकाश्यप ने, जहाँ मल्लों का मुकुट-बन्धन नामक चैत्य था, जहाँ भगवान की चिता थी, वहाँ पहुँचकर चीवर को एक कंधे पर कर अंजलि जोड़ तीन बार चिता की परिक्रमा कर सिर से वन्दना की। पाँच सौ भिक्षुओं ने भी एक कन्धे पर चीवर कर हाथ जोड़ तीन बार चिता की प्रदक्षिणा कर भगवान के चरणों में सिर से वन्दना की।

२—दाह-क्रिया

आयुष्मान महाकाश्यप और उन पाँच सौ भिक्षुओं के वन्दना कर लेते ही भगवान की चिता स्वयं जल उठी। भगवान के शरीर की जो झिल्ली या चर्म मांस, नस, या चर्बी थी, उनकी न राख जान पड़ी

*वर्तमान कुसीनगर—जिला गोरखपुर यू० पी०

न कोयला; सिर्फ अस्थियाँ ही बाकी रह गयीं, जैसे कि जलते हुए घी या तेल की राख (=छारिका जान पड़ती है न कोयला (=मसि)। भगवान् के शरीर के दग्ध हो जाने पर मेघ ने प्रादुर्भूत हो आकाश से भगवान् की चिता को ठण्डा किया। कुसीनारा के मल्लों ने भी सर्वगन्ध मिश्रित जल से भगवान् की चिता को ठण्डा किया।

तब कुसीनारा के मल्लों ने भगवान् की अस्थियों को सप्ताह-भर संस्थागार में रखा उनकी पूजा की।

४—स्तूप निर्माण

राजा मागध अजातशत्रु वैदेहीपुत्र ने सुना—'भगवान् कुसीनारा में परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। राजा मागध अजातशत्रु वैदेहीपुत्र ने कुसीनारा के मल्लों के पास दूत भेजा—'भगवान् भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ; भगवान् की अस्थियों में मेरा भी उचित हिस्सा है। मैं भी भगवान् की अस्थियों पर 'स्तूप बनाऊँगा और पूजा करूँगा।'

वैशाली के लिच्छवियों ने सुना।

कपिलवस्तु के शाक्यों ने सुना।

अल्लकप्प के बुलियों ने सुना।

राम ग्राम के कोलियों ने सुना।

वेठ दीप के ब्राह्मणों ने सुना।

पावा के मल्लों ने भी सुना।

ऐसा कहने पर कुसीनारा के मल्लों ने उन संघों और गणों से कहा—'भगवान् हमारे ग्राम क्षेत्र में परिनिवृत्त हुए, हम भगवान् की अस्थियों का भाग नहीं देंगे।'

उनके ऐसा कहने पर द्रोण ब्राह्मण ने उन संघी और गणों से कहा—

आप सब मेरी एक बात सुनें। हमारे बुद्ध क्षमावादी थे। यह ठीक नहीं कि उन उत्तम पुरुष की अस्थियाँ बाँटने में मारपीट हो, आप सभी एक मत होकर आठ भाग करें, दिशाओं में स्तूपों का विस्तार हो।

बहुत से लोग बुद्ध में प्रसन्न हों।'

'तो ब्राह्मण तू ही' भगवान् की अस्थियों को आठ समान भागों में विभक्त कर।'

'अच्छा भो!' कह ब्राह्मण ने भगवान् की अस्थियों को आठ भागों में बाँट कर उन संघों से निवेदन किया—'आप सब ये कुम्भ (घड़ा) मुझे दें; मैं कुम्भ का स्तूप बनाऊँगा और पूजा करूँगा।

उन्होंने द्रोण ब्राह्मण को कुम्भ दे दिया।

पिप्पलिवन के मौर्यों ने सुना।

'भगवान् की अस्थियों का भाग नहीं है। भगवान् की अस्थियाँ बट चुकीं। यहाँ से कोयला ले जाओ।'

वे वहाँ से कोयला ले गये।

राजा अजात शत्रु ने राजगृह में भगवान् की अस्थियों का स्तूप बनाया और पूजा की।

वैशाली के लिच्छिवियों ने भी।

कपिलवस्तु के शाक्यों ने भी।

अल्लकप्प के बुलियों ने भी।

रामग्राम के कोलियों ने भी।

वेठ द्वीप के ब्राह्मणों ने भी।

पावा के मल्लों ने भी।

कुसीनारा के मल्लों ने भी।

द्रोण ब्राह्मण ने भी कुम्भ का।

पिप्पलिन के मौर्यों ने भी कोयले का।

इस प्रकार चक्षुष्मान (बुद्ध) का शरीर सुसंस्कृत हुआ। देवेन्द्रों, नागेन्द्रों, नरेन्द्रों से पूजित तथा श्रेष्ठ मनुष्यों से पूजित हुआ, उसे हाथ जोड़कर वन्दना करो, सौ कल्प में भी बुद्ध होना दुर्लभ है।

काश! बापू की राख पर भी देश के कोने-कोने में स्तूप बनवा दिये जा सकते!!!

२४

वैज्ञानिक भौतिकवाद और बौद्ध-दर्शन

दर्शन की जितनी भी विशेष परिभाषाएँ हैं वे किसी-न-किसी दर्शन-विशेष की ही परिभाषाएँ हैं। दर्शन की सामान्य परिभाषा है गहरा चिन्तन। किसी भी वस्तु अथवा क्रिया के विषय में स्थूल, ऊपरी-दृष्टि से विचार न कर, गहराई से विचार करना।

चार आदमी हैं। चारों को एक पुस्तक दिखाई देती है। चारों कहते हैं कि पुस्तक है। यह हुआ स्थूल-विचार।

अब मान लीजिए कि चार आदमियों में से एक आदमी चश्मे का व्यवहार नहीं करता और शेष तीन चश्मे का व्यवहार करते हैं। बिना चश्मे वाली आँख को जो पुस्तक अथवा पुस्तक का जो स्वरूप दिखाई देता है, क्या चश्मे वाली आँखों को भी ठीक वही पुस्तक अथवा पुस्तक का ठीक वही स्वरूप दिखाई देगा? निश्चय से नहीं। तब प्रश्न उठता है कि वास्तविक अथवा उसका यथार्थ स्वरूप कौन-सा है? जो बिना चश्मे के दिखाई देता है, अथवा जो चश्मे वाली आँखों को दिखाई देता है? फिर प्रश्न उठता है कि चश्मे वाली आँखों पर भी तीन नम्बरों के चश्मे लगे हुए हैं। तीन जनों को दिखाई देने वाली तीन पुस्तकों अथवा उन तीन-रूपों में से कौन-सी पुस्तक अथवा कौन-सा रूप यथार्थ है? और क्या यह सम्भव नहीं कि यथार्थ स्वरूप किसी एक को भी न दिखाई देता हो? क्योंकि चारों की आँखें सदोष हो सकती हैं। जिस ने चश्मा नहीं लगाया उसका यह मतलब नहीं कि उसकी आँख सर्वथा निर्दोष

ही है। जब चारों आँखें सदोष हैं, तो सर्वथा निर्दोष आँख से दिखाई देने वाली पुस्तक अथवा उसका यथार्थ स्वरूप किसी को कैसे दिखाई दे सकता है? जब यथार्थ पुस्तक अथवा उसका यथार्थ स्वरूप किसी को दिखाई ही नहीं देता और जो-कुछ दिखाई देता है, वह यथार्थ पुस्तक अथवा उसका यथार्थ स्वरूप है ही नहीं, तो हमारे पास इस बात का क्या प्रमाण है कि इन दिखाई देने वाले विभिन्न स्वरूपों के अतिरिक्त कोई एक वास्तविक पुस्तक है ही? क्या यह सम्भव नहीं कि कहीं कोई भी पुस्तक न हो और इन दिखाई देने वाले भिन्न-भिन्न स्वरूपों के आधार पर ही हमने पुस्तक के अस्तित्व अथवा उसकी सत्ता की कल्पना कर ली हो? पुस्तक-विशेष है, किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप दिखाई नहीं देता, यह बात सत्य है, अथवा यह बात सत्य है कि पुस्तक विशेष है ही नहीं, किन्तु इन्द्रिय-जनित अनुभूति-मात्र के आधार पर हम पुस्तक के अस्तित्व की यथार्थ-सत्ता मान बैठे हैं?

दर्शन की गली में चले जाने से स्थूल आँख को दिखाई देने वाली भली-चंगी पुस्तक ही आँख से ओझल हो गई।

संसार के बारे में जितने भी दार्शनिक दृष्टिकोण हैं वे कम या अधिक मात्रा में कुछ एक ओर झुके हुए हैं, कुछ दूसरी ओर। कुछ आत्मवाद और ब्रह्मवाद की ओर तथा कुछ यथार्थवाद अथवा भौतिकवाद की ओर। जो दार्शनिक मत जितना ही अधिक आत्मवाद और ब्रह्मवाद की ओर झुका हुआ है वह उतना ही अधिक बाह्य जगत से इनकारी है। उसके लिए ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। ब्रह्म है, जगत है ही नहीं। ब्रह्म तो स्वयं-सिद्ध है, किन्तु जगत का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

जो दार्शनिक मत जितना ही अधिक यथार्थवाद अथवा भौतिकवाद की ओर झुका हुआ है वह उतना ही अधिक आत्मा, परमात्मा अथवा ब्रह्म के अस्तित्व से इनकारी है। इन्द्रियों के साक्षात-अनुभव में आने वाला जगत ही वास्तविक-सत्ता है, शेष आत्मा, परमात्मा ब्रह्म, आदि

सब मनुष्य की कल्पनाएँ हैं। जगत है, आत्मा परमात्मा, ब्रह्म कुछ भी है ही नहीं। जगत अनुभव सिद्ध है। आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म मनुष्य का भ्रम-मात्र हैं।

वैज्ञानिक भौतिकवाद दो शब्दों से ग्रहण किया जा सकने वाला एक अर्थ विशेष है। वैज्ञानिक का अर्थ सामान्य पाठक के लिए वही है जो अंग्रेजी शब्द साइंटिफिक (Scientific) का है, किन्तु यहाँ वैज्ञानिक शब्द अंग्रेजी शब्द डायलैक्टिकल (Dialactical) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। बौद्ध-दर्शन में 'विज्ञान' निरन्तर परिवर्तनशील तत्व, माना गया है। 'योगाचार' मतानुयायी दार्शनिकों के लिए 'विज्ञान' ही एक मात्र सिद्ध-तत्व है। 'विज्ञान' को अनित्य न मान कर 'नित्य' मान लिया जाय, तो उस से शंकर के ब्रह्मवाद की उत्पत्ति सहज ही में हो जाती है। किन्तु 'विज्ञान' यदि अनित्य नहीं है तो उसका अस्तित्व ही बौद्ध-दर्शन को अमान्य होगा। वैज्ञानिक भौतिक-वाद का 'वैज्ञानिक' परिवर्तनशीलता के इस अपवाद-रहित नियम का ही द्योतक है। हिन्दी में इसे इस अर्थ में रूढ़ करने का श्रेय मैं समझता हूँ राहुल सांकृत्यायन को ही है।

दूसरा शब्द है 'भौतिकवाद'। 'भौतिकवाद' दर्शन शास्त्र के लिए कोई नया शब्द नहीं। भारतीय दार्शनिक विचारकों ने कुछ निन्दात्मक ध्वनि में 'जड़वाद' को इसी शब्द का पर्याय माना है। उनकी दृष्टि में जड़-जड़ है, और चेतन-चेतन। जड़ और चेतन में न किसी प्रकार का साम्य है और न सम्बन्ध। प्रकृति जो चार महाभूतों (बौद्धों के अनुसार) अथवा पाँच तत्वों (अबौद्धों के अनुसार) का दूसरा नाम है, जड़ है। यही अखिल जगत है। जो चैतन्य है, उसकी उत्पत्ति भी इसी भूत, इसी जड़-तत्व से हुई है। यही संक्षेप में भौतिकवाद अथवा जड़वाद है।

प्रश्न यह है 'भूत' किसे कहेंगे? इन्द्रियों के सन्निकर्ष से जिसका बोध हो सके और जिसका बोध होता है, वह भूत है। यदि कोई वस्तु

सामान्य आँख से नहीं दिखाई देती, किन्तु अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से दिखाई देती है, तो वह भी इस 'भूत' के अन्तर्गत है।

इस प्रकार वैज्ञानिक भौतिकवाद जहाँ एक ओर नित्यता का निषेध करता है, वहाँ दूसरी ओर किसी भी अभौतिक तत्व का निषेध करता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जहाँ वह एक ओर अनित्यता का प्रतिपादन करता है, वहाँ साथ ही 'भौतिकता' का भी जोरदार समर्थन करता है। 'भूत' है, किन्तु वह जड़ नहीं। वह चेतन न सही, किन्तु वह गतिमान है। ऐसा चेतन भी किस काम का, जो गतिमान भी नहीं।

'भौतिक' तत्वों की यह गतिशीलता अपने में सर्वथा अनियमित नहीं है। यह सत्य है कि इस 'भूत' का कोई 'भूतात्मा' अथवा 'नियामक' नहीं है, तो यह अपने में नियमित है, नियमबद्ध है। वह कौन-सा *नियम है जो भूत की गतिशीलता के साथ आबद्ध है? वह नियम है* है—परिमाणात्मक परिवर्तन होते-होते गुणात्मक परिवर्तन हो जाने की आदमी के शरीर में उष्णता रहती है। यदि वह उष्णता बढ़ने लगती है और ६६ की सीमा लांघ जाती है तो हम निरोग आदमी को रोगी मान लेते हैं और यदि वह उष्णता घटने लगे और आदमी ठंडा हो जाय तो हम जीवित मनुष्य को मृत मान लेते हैं। कोई भी दो चीजें इसी परिमाणात्मक परिवर्तन और गुणात्मक परिवर्तन के नियम से सम्बद्ध रहकर ही आपस में सम्बन्धित रहती हैं।

बौद्ध दर्शन इस वैज्ञानिक भौतिकवाद से कितना दूर अथवा समीप है? इतना दूर नहीं कि दोनों दर्शनों को परस्पर विरोधी दर्शन कहा जा सके, इतना समीप नहीं कि दोनों दर्शनों को एकदम एक ही दर्शन माना जा सके।

बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार जिन मूल-धर्मों से निर्मित है, वे सभी 'संस्कृत' हैं। संस्कृत धर्मों से निर्मित होने के कारण ही हम संसार को संसार कहते हैं। यदि हम संसार का विश्लेषण करते-करते किसी एक ऐसी सीमा पर पहुँच जायं जहाँ आगे विश्लेषण कर सकना

असम्भव प्रतीत हो और हमें रुक जाना पड़े, तो जहाँ पहुँचकर विश्लेषण असम्भव-प्राय हो जाता है, जहाँ जाकर हम रुक जाते हैं, वहाँ जो तत्व हैं वे भी 'संस्कृत-धर्म' ही हैं। बौद्ध धर्म इन तत्वों के जड़ और चेतन इस प्रकार के दो भेद नहीं ही करता। बौद्ध धर्म के 'संस्कृत-धर्मों' में जड़त्व और चेतनत्व दोनों की गुंजायश है।

इन संस्कृत धर्मों के अनेक दृष्टियों से अनेक वर्गीकरण किए गए हैं। प्रसिद्ध और मोटा वर्गीकरण पंचस्कन्धात्मक है—(१) रूप, (२) वेदना, (३) संज्ञा, (४) संस्कार, (५) विज्ञान।

इसी पंचस्कंन्धात्मक संसार को नामरूपात्मक संसार कहकर भी सन्तोष कर लिया जा सकता है। नाम माइंड (Mind) और रूप मैटर (Matter)

ऊपर कह आए हैं कि दार्शनिकों का अधिकांश चिन्तन 'नाम' से 'रूप' अथवा 'रूप' से 'नाम' की उत्पत्ति के साथ सम्बद्ध रहा है। सभी दार्शनिक कम या अधिक मात्रा में एक या दूसरी ओर झुके रहे हैं—अबौद्ध दार्शनिक ही नहीं, बौद्ध दार्शनिक भी। किन्तु बौद्ध-दर्शन की जो केन्द्रियधारा है और जिसका प्रतिनिधित्व पालि अथवा बुद्ध-वचन में होता है, वह न नाम से रूप की उत्पत्ति स्वीकार करती है और न रूप (Matter) से नाम (Mind) की।

भौतिक दर्शन के अनुसार एक समय भूत (मैटर Matter) ही भूत था और उस भूत में परिमाणात्मक परिवर्तन होते-होते गुणात्मक परिवर्तन होकर उसी से 'मन' अथवा 'चित्त' की उत्पत्ति भी हो गई। बौद्ध चिन्तन किसी ऐसे समय को स्वीकार नहीं करता जब केवल 'भूत' ही 'भूत' अस्तित्व में रहा हो।

जहाँ तक अतीत की जानकारी प्राप्त की जा सकती है, प्राप्त की जा सकी है, संसार नाम-रूपात्मक ही चला आया है। बिना 'नाम' के केवल 'रूप' ही 'रूप' रहा हो, ऐसा भी नहीं। यदि बौद्ध दर्शन की केन्द्रियधारा 'नाम' से 'रूप' अथवा 'रूप' से 'नाम' की उत्पत्ति

स्वीकार करती तो वह एक या दूसरी ओर झुक जाती, किन्तु उसका मध्यम मार्ग उसका साथ नहीं ही छोड़ता। वह संसार की कल्पना हर अवस्था में नाम-रूपात्मक संसार के रूप में करती है।

और यदि एकदम पूर्व के अन्तिम छोर की ही बात पूछी जाय तो बौद्ध दर्शन इस मामले में अज्ञेयवादी है, क्योंकि बुद्ध-वचन है—"भिक्षुओं, यह संसार बिना सिरे का है, पूर्व का सिरा दिखाई नहीं देता।"

यहाँ तक तो हुआ संसार के भौतिक होने न होने का प्रश्न? अब रहा उसका विशेषण 'वैज्ञानिक' जो अनित्यता का पर्यायवाची है। इस दार्शनिक अर्थ में वैज्ञानिक शब्द बौद्ध दर्शन से ही लिया गया है। इसलिए यदि व्यापक अर्थों में इस विषय में बौद्ध दर्शन और वैज्ञानिक भौतिकवाद में विशेष अन्तर न भी स्वीकार किया जाय तो अयथार्थ नहीं।

दोनों दर्शनों को 'गति' का निरन्तर अस्तित्व न केवल मान्य ही है, किन्तु दोनों को उसका आग्रह है। वैज्ञानिक भौतिकवाद परिमाणात्मक परिवर्तन होते-होते गुणात्मक परिवर्तन की बात करता है, तो बौद्ध दर्शन प्रतीत्य-समुत्पाद की। दोनों विचार यदि एकदम एक नहीं हैं तो दोनों परस्पर अविरोधी हैं।

'एक के होने से दूसरे के होने' और 'एक के न होने से दूसरे के न होने' में जो अविभाज्य सम्बन्ध है, उसी का नाम 'प्रतीत्य-समुत्पाद' है। दूध होने से दही होता है और दूध न होने से दही नहीं होता। दही की उत्पत्ति दूध के अस्तित्व पर निर्भर करती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक अस्तित्व प्रत्यय-समुत्पन्न है, जैसे "अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम-रूप, नाम-रूप के होने से छः इन्द्रियाँ, छः इन्द्रियों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान,

उपादान के होने से भव, भव के होने से जाति, जाति के होने से जरा-मरण, शोक, रोना-पीटना आदि सभी दुःख।"

दो क्षणों के दो भिन्न प्रतीत होने वाले अस्तित्वों में जो आपसी सम्बन्ध है उसे 'न वही न एकदम भिन्न' कहकर ही वर्णन किया जा सकता है। यदि दूध और दही में कोई अन्तर न हो तो 'नित्यता' आ कूदती है, और यदि दोनों सर्वथा भिन्न हों तो 'उच्छेद' आ कूदता है। बौद्ध दर्शन न 'नित्यता' को स्वीकार करता है और 'उच्छेद' को। वह इस विषय में भी मध्यम-मार्गी है। इसी लिए उसका अपना दार्शनिक सिद्धान्त है प्रतीत्य-समुत्पाद।

ऊपर के विवेचन के अनुसार दोनों दर्शन जिन दो बातों में समान प्रतीत होते हैं, उनमें एक तो है आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व की अस्वीकृति और दूसरी है शब्द प्रमाण की अमान्यता। परमात्मा अथवा ब्रह्म ही नहीं तो शब्द-प्रमाण कैसा?

वैज्ञानिक भौतिकवाद प्रत्यक्ष-प्रमाण को ही प्रमाण मानता है, अनुमान का भी आश्रय लेना ही पड़ता है। बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को लेकर चलता है। शब्द-प्रमाण को दोनों अस्वीकार करते हैं, कारण स्पष्ट है। बुद्धिवाद और शब्द-प्रमाणवाद की संगति बैठ ही नहीं सकती।

मार्क्सवादी दार्शनिकों का कहना है कि अतीत के दार्शनिकों ने केवल संसार की व्याख्या की है और उनका काम है संसार को बदलना। इस में सन्देह नहीं कि मार्क्सवादी दर्शन आज के संसार के परिवर्तन और निर्माण में क्रान्तिकारी हिस्सा ले रहा है किन्तु कोई भी दर्शन ऐसा नहीं होगा जो केवल सिद्धान्त-ही-सिद्धान्त हो और अपने साथ कुछ-न-कुछ व्यवहार न लिये हो। बौद्ध दर्शन जहाँ एक ओर संसार के दुःख की व्याख्या करता है वहाँ उसके नाश का उपाय भी बताता भी है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाश और व्यक्तिगत

सम्पत्ति रखने के सिद्धान्त के समर्थकों के विनाश को मानवी कल्याण की अनिवार्य शर्त मानता प्रतीत होता है। सचमुच आज के युग में सभी वस्तुओं का उत्पादन और वितरण मुनाफ़े की ही जिस मूलभूत भावना को लेकर हो रहा है, उसके रहते जन-जन का कल्याण असंभव ही दिखाई देता है। आज के उत्पादन और वितरण-पद्धति के मूल में लाभ-ही-लाभ है। प्रश्न यह है कि लाभ के मूल में क्या है? उत्तर है—लोभ। यदि एक दर्शन 'लाभ' के विरुद्ध लड़ाई ठानता है और दूसरा 'लोभ' के विरुद्ध, तो क्या दोनों दर्शनों को परस्पर विरोधी दर्शन कहा जायगा?

वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन का व्यवहार पक्ष है समाजवादियों के संघ में (कम्यून) व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए कोई गुंजायश नहीं। बौद्ध दर्शन का व्यवहार पक्ष है भिक्षुओं के संघ। वहाँ भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए कोई गुंजायश है ही नहीं। दोनों दर्शनों के व्यवहार-पक्ष में यह कोई छोटी समानता नहीं हैं।

किन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर भी है। समाजवादियों के संघ में मानसिक और शारीरिक उत्पादन-कार्य करने वाले हर प्रकार के सदस्य रह सकते हैं। भिक्षु-संघ में केवल मानसिक कार्य करने वाले। समाजवादी संघ में मानसिक और शारीरिक श्रम से उत्पन्न की हुई भोग-सामग्री को, आवश्यकता अथवा काम के अनुसार, यथासम्भव बराबर बराबर बांट खाने का आदर्श है। भिक्षु-संघ में दूसरों से 'दान' में मिली हुई भोग-सामग्री को ही बराबर-बराबर बाँट खाने की मजबूरी है।

यदि आज सारा समाज व्यक्तिगत सम्पत्ति हीन 'संघ' में बदल जाय, तो मैं समझता हूँ कि वैसी हालत में यह मानसिक और शारीरिक श्रम का भेद मिट सकता है, और यह 'उत्पादन करने वालों' तथा 'दान ग्रहण करने वालों' का भी।

यह दोनों भेद महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'शिक्षा' के बदले में जो श्रमण आज तक 'भिक्षा' लेकर सन्तुष्ट रहे हैं, इस बदले हुए युग में उन्हें

श्रम के बदले में कोई मजदूरी लेने में भी हिचकने की आवश्यकता नहीं। यदि उनके इस व्यवस्था-परिवर्तन-मात्र में संसार संघ-गत होने की ओर अग्रसर होता हो तो उन्हें सबसे पहले इस के लिए तैयार रहना चाहिए।

यह 'संघं शरणं गच्छामि' कैसे हो? मानवी-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर किए जा सकने वाले आत्म-त्याग द्वारा अथवा अनिवार्य समझे जाने वाले वर्ग-संघर्ष द्वारा? यदि हम पहली बात को अपनाने के लिए तैयार नहीं, तो दूसरी हमारे सिर पर है ही।

पिछले पाँच सहस्र वर्ष का अनुभव अपनी पीठ पर लादे हुए बूढ़ा इतिहास हम से पूछ रहा है—तुम कौनसा रास्ता अपनाने जा रहे हो?

२५

पाकिस्तानियों के बीच

अभी उस दिन वर्धा स्टेशन पर देखा कि कुम्भ के मेले पर आने वाले यात्रियों की तरह मुसलमानों की एक बेतरतीब भीड़ जहाँ-तहाँ पड़ी है। ये कहाँ जा रहे हैं? कोई भूपाल जा रहा है। कोई हैदराबाद जा रहा है। कोई बम्बई के रास्ते कराची अर्थात् पाकिस्तान चला जा रहा है।

एक दिन नागपुर में मेरी दो-तीन गाड़ियाँ छूट गईं। पहले तो टिकट ही नहीं मिला और टिकट मिला भी तो गाड़ी में तिल धरने को जगह न थी। गाड़ियों में से वर्ग-भेद एकदम मिट गया था। सभी गाड़ियों पर एक ही वर्ग लदा हुआ था—पाकिस्तान जाने वाला वर्ग।

और, उस दिन जबलपुर में स्टेशन पर उतरा तो प्लेट-फार्म पर कहीं तिल धरने को जगह नहीं। जहाँ-तहाँ लोग बुरी तरह पसरे हुए थे। एक कुली ने बताया—हुजूर! स्टेशन के पास ही इन लोगों में से किसी के पास का बम फट गया है।

और अब तो यह दृश्य आम हो गया है। बल्कि एक बार आई हुई, बाढ़ के उतर जाने पर जैसी दशा होती है, कुछ-कुछ वैसी ही दशा है।

१० नवम्बर की शाम को प्रयाग से चला। रात में न जाने कहाँ-कहाँ से डिब्बों में एक-एक मूर्ति सवार होनी आरम्भ हुई। प्रत्येक स्टेशन पर कोई-न-कोई सज्जन आते और कुछ-न-कुछ ट्रंक-गठरी के साथ-साथ

किन्हीं बुर्काधारी देवी को डिब्बे में बिठाकर अपने किसी दूसरे डिब्बे में जा बैठते—सम्भवतः तीसरे दर्जे में। मेरे दूसरे दर्जे के डिब्बे में लिखा हुआ था, 'छः आदमियों के लिए।' बारह आदमियों का तो उस में सामान ही हो गया और जन-संख्या भी बारह से कम न थी। एक बहुत ही छोटी बच्ची, कुछ महीने की होगी। दो-तीन लड़कियाँ। दो-तीन देवियाँ। दो-तीन बूढ़ी माताएँ। पुरुष के नाम पर एक हाजी साहब थे जो बिचारे प्रायः सारे रास्ते ऊपर टँगे रहे।

जब गाड़ी में अभी अधिक भीड़ नहीं हुई थी, मैंने उनसे पूछा—"आप क्या पाकिस्तान जा रहे हैं?"

बड़ी ही शराफत से बातचीत शुरू हुई और ज़ारी रही—"जी हाँ।"

"आप तो रेलवे-मुलाजिम हैं?"

"जी हाँ मैं गार्ड हूँ।"

"आप खुद बखुद जा रहे हैं, या आप को सरकार भेज रही है?"

"यों तो हमें इस वक्त सरकार भेज रही है, लेकिन हम से पूछा गया था तो हम ने खुद पाकिस्तान का ही चुनाव किया था।"

"आप को मालूम है कि आप कहाँ जा रहे हैं, या पाकिस्तान में पहुँचने पर ही कहीं-न-कहीं आपकी नौकरी तय होगी?"

"अभी तो कुछ मालूम नहीं कि कहाँ जा रहे हैं। नौकरी करना है। यहाँ भी ईमानदारी से नौकरी करते रहे और वहाँ भी ईमानदारी से नौकरी करनी है। जैसा यहाँ वैसा वहाँ। हम तो अब जाना भी नहीं चाहते लेकिन औरतें हल्ला मचाती हैं कि जहाँ सब रिश्तेदार चले गए वहाँ हम भी क्यों न जायँ।"

और मैं भी बीच-बीच में औरतों की बातें सुन लेता था। वे कभी अपनी ग्रामीण भाषा बोलतीं, कभी माँजी हुई उर्दू। एक को कहते सुना। "खुदा जाने! यहाँ से हालत बेहतर होगी या यहाँ से भी बदतर होगी न जाने क्या हश्र (अन्तिम परिणाम) होगा।"

हाजी साहब बोले—"यहाँ और वहाँ में इतना ही फर्क होगा कि यहाँ हमें सोसायटी न मिलेगी वहाँ सोसायटी मिल जायगी।"

निवेदन किया—"यही तो अपने मुल्क की बदकिस्मती है कि धर्मान्तर होता है तो लोग समझ लेते हैं कि समाजान्तर ही हो गया है। यहाँ क्या आपकी कोई सोसायटी न थी?"

बोले—"नहीं, यहाँ भी मेरे अच्छे तालुकात (सम्बन्ध) रहे। और आप बजा फरमाते हैं, जैसे हमारे बुजुर्ग वैसे आपके बुजुर्ग।"

इस 'हमारे' और 'आपके' में ही सारी खुराफात की जड़ छिपी है। 'हमारे' शब्द के अन्तर्गत 'वे' नहीं आते। भुसावल मैं अगले शाम को पहुँचा। तब तक उस डिब्बे के एक कोने में मेरा 'पाकिस्तान' बना हुआ था और शेष सारे 'हिन्दुस्तान' पर उनका अधिकार था। मैं बैठा-बैठा इस 'हम' और 'आप' का विवेचन करता रहा। मैं उनकी सुविधा-असुविधा का ख्याल रखता था और वे भी सब मेरी सुविधा-असुविधा का ख्याल रखती थी। धूलधक्कड़ और चारों ओर के अस्त-व्यस्तपन के कारण मैं कुछ न पढ़ता हुआ भी जीवन की किताब में से बहुत-कुछ पढ़ रहा था। मैं यह जानने की कोशिश कर रहा था कि इन के 'हम' में हम क्यों नहीं समाते और हमारे 'हम' में यह क्यों नहीं समाते। नहीं समाते क्या यह सत्य ही है। सत्य भी है, झूठ भी है। मैं तो समझता हूँ कि सत्य की अपेक्षा झूठ अधिक है। किन्तु जो झूठ है वहाँ आज सत्य से भी अधिक सत्य हो रहा है।

आदमी के जीवन में भेष के बाद भाषा का नम्बर है और उस के भी बाद भीतरी भाव का। क्या उन की भाषा उन्हें 'हम' से पृथक् करती है? हाँ और नहीं। हाँ यदि उस बनावटी भाषा की बात लें जो उनके स्वाभाविक घर की भाषा नहीं है बल्कि मकतबों में पढ़ी हुई भाषा है, वैसी ही जैसी विद्यालयों में पढ़ी हुई हिन्दी। कुछ-न-कुछ लोगों को यह 'उर्दू' अधिकांश लोगों से पृथक् अवश्य करता है। अभी तक इन 'उर्दू' वालों की यह आशा ही है और प्रयत्न भी यही है कि लोग

इस सब के लिए 'आम फहम' भाषा को सीख ले किन्तु अब हिन्दी के दिन फिरे हैं। जनपद बोलियों का अथवा जनपद बोलियों से तो हिन्दी का कभी विरोध हो ही नहीं सकता। उर्दू से भी उन का कोई विरोध नहीं है। उर्दू फूले फले। किन्तु केवल इतनी बात है कि हर 'उर्दू' का जानकार हिन्दी का जानकार भी अवश्य हो। जिस की उर्दू साहित्य में अभिरुचि है उस की अभिरुचि बनी रहनी चाहिए, किन्तु साथ ही अभिरुचि हो चाहे न हो हिन्दी की जानकारी भी अवश्य होनी चाहिए। 'उर्दू' और हिन्दी का जानकार साहित्यिक दृष्टि से केवल 'हिन्दी' के जानकार से ऊँचे दर्जे का प्राणी है और केवल 'उर्दू' का जानकार होकर हिन्दी की जानकारी से कतराने वाला राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त निम्न स्तर का प्राणी है।

भाषा की बात में हम भेष को भूल ही गए। सामान्य जनता के पहनावे में कहाँ किसी प्रकार का भेद है? जो बात भाषा के बारे में कही गई, वही भेष के बारे में लागू समझिए। बुर्कों के अन्दर ऊँची एड़ी के जूतों से लेकर सभी आधुनिक बनाव सिंगार के लिए जगह हो सकती है, तो एक साड़ी के लिए ही क्यों नहीं?

पर्दा? पर्दा? किसी की भावना को ठेस न लगे तो यहाँ कहने को जी चाहता है कि चतुर्मुखी प्रगति के इस युग में इन 'चलते-फिरते' तम्बुओं के लिए कोई जगह नहीं रहनी चाहिए। मैं देख रहा था कि इस पर्दा के मारे बिचारे हाजी साहब को और हाजी साहब के मारे इन पर्दा परस्त देवियों की बुरी हालत है। इधर से झाँकतीं उधर से झाँकतीं, किन्तु सीधे-सीधे खिड़की से बाहर के दृश्य भी न देख पातीं। इन्हीं देवियों में से बेगमें भी हुई हैं। राजकार्य भी चलाए हैं। मैं नहीं मानता कि पर्दा इस्लाम का आवश्यक अंग है। खंडवा स्टेशन पर एक टिकट-चेकर टिकट देखना चाहता था। लेकिन कौन किस से किस का टिकट पूछे। सब पर्दानशीन देवियाँ? बुहानपुर या किसी दूसरे स्टेशन पर देवी उतरीं। उन के साथ एक साहब भी दिखाई दिए। टिकट-चेकर

ने तुरन्त आ घेरा। काफी गर्मा-गर्मी हुई। टिकट-चेकर भी करारा था। अन्त में वह साहब कहते सुनाई दिए—मैं इनके साथ हूँ। मैं इनका किराया दे दूँगा।

मुझ से टिकट चेकर की बात हुई तो मैंने पूछा—क्यों साहब! प्रयाग से यहाँ तक किसी एक ने भी हमारे डिब्बे को चेक नहीं किया। बोला—क्या करें साहब! बहुत पोल है। ऊपर बुर्का पहने रहती हैं। भीतर पोल-ही-पोल है। उसका कहना असांस्कृतिक लगा, किन्तु था सही।

देवियाँ तो कुछ आराम से भी थीं। उन के साथ के मर्द दो-दो दिन से सोये नहीं थे। वे इससे पहले कभी बम्बई गए नहीं थे। कहाँ ठहरेंगे? यह स्वाभाविक चिन्ता उन्हें चिंतित किए थी। तो भी वे चले जा रहे थे पाकिस्तान की ओर!!!

वह चुपचाप थे। आगे पीछे खां खुदा जाने जाना था उनको कहाँ?

२६

आरोग्य का प्रधान साधन—मन

बहुत ही थोड़े लोग होंगे जिनका मन पर पूरा अधिकार हो। लेखक जानता है कि वह उनमें नहीं है। किन्तु, क्या ऐसे लोगों की भी कमी है, जिन पर मन का पूरा-पूरा अधिकार है? यह तो सभी पर, कम वा अधिक मात्रा में दिखाई देता है।

जिस वस्तु से हम जितने ही अधिक परिचित होते हैं उसकी परिभाषा करना उतना ही अधिक कठिन होता है। कोई पूछे कि मन क्या है? तो यह कह सकना आसान नहीं है। प्रश्न पूछने वाला भी मन ही है और इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करने वाला भी मन ही है।

बिना यह जाने कि आग क्या है, हम उस के उपयोग और प्रभाव को जानते हैं। इसी प्रकार बिना यह जाने कि मन क्या है, हम उसके भी प्रयोग और प्रभाव से सुपरिचित होकर उससे लाभ उठा सकते हैं।

यों कहना ही हो तो हम कह सकते हैं कि आँख, नाक और कान आदि सभी इन्द्रियों की क्रियाओं में जो सम्बन्ध और समन्वय दिखाई देता है वह स्वयं अपने में एक क्रियासमूह है, और उस क्रियासमूह को ही मन कहते हैं। मन वस्तु-रूप न होकर क्रिया-रूप है, स्थिति-रूप न होकर प्रवाह-रूप है।

इसी मन के प्रभाव के बारे में भगवान बुद्ध ने कहा है:—

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा
ततो नं, दुक्खमन्वेति चक्कं, व वहतो पदं ॥

[धम्मपद]

[जितनी भी क्रियायें हैं, जितने भी धर्म हैं, उन में मन ही पूर्व-गामी है, मन ही श्रेष्ठ है (वे) मनोमय हैं। यदि आदमी दुष्ट मन से बोलता है, या कुछ भी करता है तो दुःख उसके पीछे-पीछे ऐसे ही हो लेता है, जैसे गाड़ी के पहिये बैलों के पीछे-पीछे।]

किन्तु यह हुआ उसका कृष्णपक्ष अथवा बुरा पहलू। उसका शुक्ल-पक्ष अथवा अच्छा पहलू उतना ही जबर्दस्त है :—

मनोपुब्बङ्गमाधम्मा मनोसेट्ठा मनोमया
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा
ततो नं सुक्खमन्वेति छाया व अनपायिनि ॥

[धम्मपद]

[जितनी भी क्रियायें हैं, जितने भी धर्म हैं, उन में मन ही पूर्व-गामी है, मन ही श्रेष्ठ है, (वे) मनोमय हैं। यदि आदमी स्वच्छ मन से बोलता है, या कुछ भी करता है तो सुख उस के पीछे-पीछे ऐसे ही हो लेता है, जैसे कभी साथ न छोड़ने वाली छाया।

प्रश्न है, दुःख किसे कहें और सुख किसे ? एक व्यक्ति के लिए जो दुःख है, वही दूसरे के लिए सुख है, एक ऋतु में जो दुःख है वही दूसरी में सुख है। इसलिए यही कहना पड़ता है कि हर देश-काल में किसी भी व्यक्ति के लिए जो प्रतिकूल वेदना है वही दुःख है और जो अनुकूल वेदना है वही सुख है।

आरोग्य एक प्रकार की अनुकूल वेदना—ईप्सित अनुभूति ही है, इसीलिए सुख है और इसीलिए हम सब उस की कामना करते हैं—रोगी होने पर रोगमुक्त होने की और रोगमुक्त होने पर रोगमुक्त रहने की।

किन्तु क्या रोगमुक्ति मात्र आरोग्य है ? नहीं, मेरी दृष्टि में आरोग्य जीवन की वह हरियाली है जो शांति और शक्ति से लबालब भरी रहती है ।

और इसी आरोग्य का प्रधान साधन है मन । निजी अनुभवों की पुस्तिका से कुछ उदाहरण देने की आज्ञा चाहता हूँ—

(१) बहुत दिनों की बात है । सारनाथ में एक गरीब लड़का कभी-कभी मुझसे कुछ पढ़ने और बात करने चला आता था । एक दिन मैं चारपाई पर बैठा था और वह पास के वृक्ष की छाया में उसकी जड़ के पास । पढ़ते-पढ़ते एकदम चिल्लाया—"बिच्छू काट गया ।" इधर-उधर देखा । मुझे कहीं बिच्छू न दिखाई दिया । जोर से डांट कर कहा—"अरे ! यहाँ बिच्छू कहाँ से आया ? यों ही कोई चीज चुभ गई होगी ।" लड़का फिर पढ़ने में लग गया । थोड़ी देर पढ़ाई चलती रही । उसके बाद क्या देखता हूँ कि सचमुच वहाँ एक बिच्छू है । लड़के को भी नजर पड़ी । बोला—"देखिए ! आप कहते थे कि यहाँ बिच्छू कहाँ से आया । यह रहा बिच्छू ।" और लड़के को विष चढ़ना आरम्भ हो गया ! ! !

अब मैं क्या करता ? मानसोपचारक के सिद्धान्तों और व्यवहार से थोड़ा परिचित हूँ । तुरन्त एक उपचार का आविष्कार किया । कहा—"एक लोहे की सेख लाओ । मेरे कहने के मुताबिक इस वृक्ष में थोड़ी-थोड़ी ठोकनी होगी । मैं मंत्रबल से विष उतार देता हूँ ।" लड़का सेख ले आया । मैंने धीरे-धीरे तीन बार करके वह सेख पेड़ में ठुकवाई । तीनों बार सेख का एक-एक हिस्सा ठुक जाने पर पूरे विश्वास के साथ कहा कि अब तीन हिस्सों में से एक हिस्सा दर्द चला गया । लड़के ने पहली दोनों बार "हाँ" की । तीसरी बार उसका सारा विष उतर गया था । लड़का फिर पढ़ने लगा ।

उस दिन मुझे लगा कि ऐसा करने लगूं तो मैं सचमुच ही झाड़-फूँक करने वाला ओझा बन सकता हूँ ।

यह तो हुआ बिच्छू के काटने का उदाहरण । सामान्य रोगों के

बारे में भी यही बात सत्य है कि मन का वहम रोग का कारण हो सकता है और मन यदि वहम से मुक्त हो गया तो आदमी भी रोगमुक्त हुआ। कहावत है कि वहम की दवा लुकमान के पास भी नहीं।

(२) सिंहलद्वीप यों ही समुद्र से घिरा हुआ है। फिर वहाँ वर्ष में छः महीना वर्षा होती रहती है। खाने को वहाँ रोटी के बजाय भात ही मिलता है। मैं जब पहले-पहल वहाँ गया तो दिन में कई बार लघुशंका के लिए उठना पड़ता था। मैंने सुन रक्खा था, कि बहुमूत्र रोग होता है, और सुन क्या रक्खा था, इस रोग के एक रोगी मित्र से भी परिचित था। समझा, मुझे भी बहुमूत्र हो गया है। क्या कारण होगा? लाख जतन करने पर भी प्रायः हर मनुष्य से आहार-विहार में जो थोड़ी गड़बड़ी होती ही रहती है उसी में से कोई गड़बड़ी, कारण होगी। पढ़ने-लिखनेवालों को—कुर्सी पर बैठनेवालों को प्रायः यह होता ही है। कुछ रोगों की चर्चा आदमी खुलकर कर सकता है और कुछ की नहीं। 'बहुमूत्र' को यदि अंग्रेजी में 'डायबिटीज' कहकर चर्चा की जाय तो उतना संकोच नहीं रहता। फिर, कुछ रोगों में कष्ट होता है, कुछ में केवल घुल-घुलकर मरना। पीड़ा-युक्त रोग छिपाये नहीं छिपते, दूसरी प्रकार के रोग कुछ समय छिपे भी रह सकते हैं। मैं भी काफी दिन छिपे-छिपे 'बहुमूत्र का रोगी' रहा। एक दिन सोचा—"अधिक छिपाये रखना अच्छा नहीं। पीछे चिकित्सा दुस्साध्य हो जा सकती है।" हिम्मत कर के राहुलजी से कहा—"मुझे तो बहुमूत्र हो गया लगता है।" बोले—"कभी रात में लघु-शंका के लिए उठते हो?"

"कभी नहीं।"

"तब क्या खाक बहुमूत्र रोग है।"

बस इस एक वाक्य से ही मेरे बहुमूत्र रोग की चिकित्सा हो गई।

पाठक कहेंगे कि वह तो बहुमूत्र रोग था ही नहीं। मैं कहता हूँ कि वह वहम का रोग था, जिस से अनेक बहुमूत्र रोग पैदा हो जा सकते हैं और जिस की दवा लुकमान के पास भी नहीं।

(२) एक और आप-बीती सुनिये, पन्द्रह वर्ष पुरानी। इंगलैंड में दातुन नहीं मिलती थी। ब्रुश ही करना होता था। शीशे के सामने खड़े होकर करने से रोज दांतों पर नजर पड़ती। एक दिन दो एक दांतों पर काला-सा एक निशान दिखाई दिया। सोचा—न जाने क्या है? कई दिन ब्रुश रगड़ता रहा। काला दाग जहाँ-का-तहाँ था। जब सन्देह बढ़ने लगा तो मैंने अपने आसपास के डाक्टर—विद्यार्थी-मित्रों को दिखाया। ये सिंहल के डाक्टर थे और ऊँची डिग्रियों के लिए इंगलैंड आये थे। एक से अधिक की राय थी कि 'पायरिया' हो सकता है। दांतों की इस बीमारी का नाम मैंने भी सुन ही रखा था। सोचा—"अब दांत निकलवाने होंगे। और इस थोड़ी आयु में ही बौद्ध से 'बे-दांती' बन जाना पड़ेगा!" जब सन्देह बढ़ने लगा तो उन डाक्टर मित्रों की ही राय से इंगलैंड के एक दंतविशेषज्ञ को दांत दिखाये गये। भला हो बेचारे का। उस ने काफी देर मुंह में झाँककर, दांतों को तरह-तरह के शीशे लगाकर देखा। अन्त में बोला—"आपके दांत बिलकुल ठीक हैं।"

इस एक वाक्य की कीमत डेढ़ पौंड या अठारह रुपये देनी पड़ी थी। मैं इतनी कीमत में भी उसे सस्ता समझता हूँ। यह रुपये न खर्च होते तो मुझे इस में तनिक सन्देह नहीं कि कुछ ही दिनों में आनन्द कौसल्यायन के दांतों में पायरिया न भी लगता तो दिमाग में अवश्य लग जाता। दांतों के पायरिया से दिमाग का 'पायरिया' बहुत खतरनाक होता है—इसी को कहते हैं वहम।

आरोग्य का मन से कितना सम्बन्ध है, यह बात एक बार बहुत ही आश्चर्यजनक और प्रभावोत्पादक ढंग से स्पष्ट हुई। प्रयाग के प्राकृतिक चिकित्सक डा० बालेश्वर प्रसाद के यहाँ 'कारबंकल' का एक रोगी था। 'कारबंकल' यों ही भयानक बीमारी है, कहीं उस के रोगी को शर्करा (शूगर) भी जाती हो तो चिकित्सा सचमुच दुस्साध्य हो जाती है। रोगी को 'डायबिटीज' था। इसलिए वह यद्यपि चिकित्सा करा रहा

था किन्तु स्वस्थ होने और जीवन की ओर से एक प्रकार निराश ही था। डाक्टर साहब उसको समझाते थे, ढाढ़स दिलाते थे। किन्तु रोगी हिम्मत हार चुका था, क्योंकि उसे शर्करा जाती थी। एक दिन डाक्टर साहब ने पूछा—"तुम्हें किसने कह दिया है कि तुम्हें शर्करा जाती है। लाओ तुम्हारा मूत्र डाक्टर के पास परीक्षा के लिए भेजें।" मूत्र भेजा गया। डाक्टर के पास से 'परिणाम' आया। उस में शर्करा बिलकुल न थी। होती कहाँ से? डा० बालेश्वरप्रसाद अपने रोगी को चार दिन से उपवास पर रखे हुए थे। रोगी को विश्वास हो गया कि उसे शर्करा नहीं जाती है और उसका 'कारबंकल' अच्छा हो सकता है। उस का 'कारबंकल' अच्छा हो गया।

उपर्युक्त सभी अनुभवों से यह स्पष्ट और स्थिर होता है कि आरोग्य का प्रधान साधन मन है।

प्रश्न उठता है कि क्या इस मनोबल का जान-बूझकर उपयोग किया जा सकता है, अथवा यह अपने ही किसी अज्ञात हिसाब से कार्य-विशेष में संलग्न होता है? हमारा नम्र निवेदन है कि संसार के अन्य सभी पदार्थों पर जो नियम लागू हैं, मन की गतिविधि कुछ उन से बहुत बाहर नहीं है। सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं। मन भी परिवर्तनशील है। सभी पदार्थ विकासशील और ह्रासशील हैं; मन भी विकासशील और ह्रासशील है। एक सामान्य पौधे के यों ही जंगल में उगने और माली की देखरेख में उगने में जो अन्तर है वही अन्तर किसी भी सामान्य जन के मन और किसी भी साधक के मन के विकास में है।

सामान्य जन भी अपने सामान्य मनोबल का उपयोग आश्चर्य-जनक ढंग से कर सकते हैं। रोगी मनुष्य निरोग हो सकते हैं और निरोग मनुष्य अधिक स्वस्थ तथा बलवान। कैसे? विधि इतनी सरल है कि उसे लिखना बेकार लगता है।

अभी उस दिन यात्रा-जीवन में मिथ्या आहार-विहार परिणाम-स्वरूप मुझे ज्वर आ गया। अगले ही दिन शाम को मुझे नागपुर

विश्व-विद्यालय में एक भाषण देना था। यों मैं कभी अस्वस्थ हो जाता हूँ तो शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ होने की वैसी चिन्ता नहीं होती। सोचता हूँ—"शरीर की सफाई होने लगी है जरा आराम से हो ले।" लेकिन उस दिन सचमुच बीमार होने की छुट्टी नहीं थी। मैंने अपनी समिति के डाक्टर त्रिवेदीजी को बुलवा भेजा और पूछा कि क्या मैं कल किसी तरह नागपुर जा सकता हूँ? बोले—"हाँ। यदि ज्वर न रहे। मैं गोलियाँ भेज दूँगा।"

शाम को डाक्टर की गोलियाँ आ गईं। मैंने उन्हें एक ओर रखवा दिया, और इस श्रद्धा और इस विश्वास के साथ यह कहता हुआ लेट गया कि मैं प्रातःकाल निश्चय ज्वरमुक्त हो जाऊँगा।

मैं प्रातःकाल ज्वरमुक्त था।

क्या रोग-मुक्त और स्वास्थ्य लाभ के महान् साधन के रूप में मनो-बल के उपयोग की इस विधि पर किसी भाष्य की आवश्यकता है?

२७

भोजन रसायन बन सकता है, यदि...

बौद्ध धर्म के परीक्षार्थी से प्रश्न पूछा जाता है—एक बात क्या है ?

वह उसका उत्तर देता है—सभी प्राणियों की स्थिति आहार पर निर्भर है।

आहार के चार प्रकार कहे गये हैं। यदि हम तीन प्रकार के सूक्ष्म आहारों की बात छोड़ भी दें; तो जो स्थूल आहार है, उसकी उपेक्षा तो नहीं हो सकती है। आदमी निराहार रहकर नहीं जी सकता। साधु-महात्मा या दूसरे लोग भी लंबे व्रत उस आहार के बल पर ही रखते हैं, जो वे व्रत रखने से पहले ग्रहण करते रहे हैं। जितने दिन पूर्व-गृहीत आहार का बल बना रहता है उतने ही दिन व्रत चल सकता है। जिन लोगों ने पहले कुछ अच्छा खाया-पिया है, उन में यदि साथ-साथ मनो-बल भी हो तो वे लंबा व्रत रख सकते हैं; किन्तु जिन लोगों ने कुछ अच्छा खाया पिया नहीं है, उन में चाहे कितना ही मनोबल अथवा आत्मबल क्यों न हो, वे लंबे व्रत रखने का साहस-भर कर सकते हैं, रख नहीं सकते। शरीरबल की कमी मनोबल अथवा आत्म-बल से पूरी हो सकती है। किन्तु उसकी एक सीमा है।

आहार कितना जरूरी है इस पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

क्या खाया जाय, और क्या न खाया जाय—इसकी चर्चा प्रायः होती है। विटामिन-वाद ने इस चर्चा को बहुत बढ़ा दिया है। आदमी

स्वस्थ हो तो उसे सामान्य शुद्धि का विचार करके जो मिले खा लेना चाहिए। अन्न-वस्त्र की तंगी के इन दिनों में अधिकांश आदमियों के लिए कोई और उपाय भी तो नहीं।

क्या खायें? इसके बाद दूसरा प्रश्न कितना खाने का है? यह मात्रा व्यक्ति की आयु, शरीर-श्रम, कार्य आदि इतनी बातों पर निर्भर करती है। उसका निर्णय आदमी को स्वयं ही करना चाहिए। कोई भी आदमी 'अधिक' नहीं खाना चाहता। उन भोजन-भट्टों की बात छोड़िए, जो दुनिया में खाने के ही लिए जीते हैं—पृथ्वी पर निरर्थक भार। आदमी प्रायः 'न कम न अधिक'—ठीक उचित मात्रा में खाना चाहता है। भोजन की उचित मात्रा है—निश्चयात्मक रूप से कम खाना।

पालि साहित्य में एक कथा है—"भगवान बुद्ध की धर्मसभा में भिक्षु भी होते थे, गृहस्थ भी, धनी भी निर्धन भी। तथागत की समदृष्टि में राजा-रंक का कोई भेद न था।"

एक दिन जिस समय तथागत बैठे हुए उपदेश दे रहे थे, उन्होंने देखा कि राजा प्रसेनजित बैठा ऊँघ रहा है। भगवान समझ गये कि आवश्यकता से अधिक खाकर आया है। उसी समय यह गाथा कही!

चत्तारो पंच आलोपे अभुत्वा उदकं पिवेत्।
अलं फासु विहाराय न कलिस्सेय्य पंडितो॥

(चार-पाँच ग्रास और खाने की जगह रखकर आदमी पानी पी ले। सुख से रहने के लिए यह काफी है। ऐसा करने से बुद्धिमान आदमी को कष्ट नहीं होता।)

राजा ने सुना तो एक माणवक (विद्यार्थी) को बुलाकर कहा—"यह गाथा याद कर लो। जिस समय हम भोजन करने बैठें, इसे रोज सुनाओ। एक कार्षापण (अशरफी) प्रतिदिन मिला करेगा।"

माणवक ने यह गाथा याद कर ली और उसी की कृपा से वह

हमें भी प्राप्त हुई है। लिखा है कि इस गाथा की सहायता से राजा का भोजन-सम्बन्धी असंयम दूर हो गया।

आदमी कुछ भी खायें, कितना भी खायें, किसी समय भी खाये मेरी दृष्टि में इन सब प्रश्नों से महत्वपूर्ण प्रश्न है कि आदमी किस भावना से खाता है ? मेरे देखते बहुत लोगों को भोजन लगता ही नहीं। उचित प्रकार का भोजन होता है, उचित मात्रा में खाते हैं, उचित समय पर भी खाते हैं—तब भी लकीरचंद के लकीरचंद। क्या कारण है ? कारण भावना की सदोषता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व बटेर की योनि में पैदा हुए। बटेर अरण्य में रूखे तिनके तथा दाने खाकर रहता था। उस समय वाराणसी में रहने वाला लोभी कौवा, हाथी आदि के मुर्दार से अतृप्त रह 'वहाँ इससे बढ़कर मिलेगा' सोच जंगल में गया। वहाँ उसने फल-मूल खाते हुए बोधिसत्व को देख सोचा—'यह बटेर बड़ा मोटा है। मालूम होता है मधुर चारा चुगता है। इसका खाना पूछकर, वही खाकर मैं भी होऊंगा।' वह बोधिसत्व से ऊपर की शाखा पर जा बैठा, और बोला—"भो बटेर ! आप कौनसा बढ़िया भोजन करते हैं जिससे खूब मोटाये हैं ? बोधिसत्व ने उसके पूछने पर उसके साथ बातचीत करते हुए यह गाथा कही—

पणीतं भुञ्जसे भत्तं सप्पितेलञ्च मातुल।
अथ केन नु वण्णेन किसो त्वमसि वायस॥

(हे मातुल ! तू मक्खन-तेल के बढ़िया भोजन करता है। हे कौवे तू किस कारण से दुबला है ?)

उसकी बात सुन कौवे ने तीन गाथायें कहीं—

अमित्त मज्झे वसतो तेसु आमि समेसतो,
निच्चं उब्बिग्गहदयस्स कुतो काकस्स दळिहयं ॥
निच्चं उब्बेधिनो काका धङ्का पापेन कम्मुना,
लद्धो पिण्डो न पीणेति किसो तेनास्मि वट्टक ॥
लूखानि तिणबीजानि अप्पस्नेहानि भुञ्जसि,
अथ केननू वण्णेन थूलो त्वमासि वट्टक ॥

(शत्रुओं के बीच में रहने वाले, उनका भोजन चुरा चुराकर खाने वाले, नित्य ही उद्विग्न-हृदय मुझ कौवे में (शरीर की) दृढ़ता कहाँ से आ सकती है ? हे बटेर ! पाप-कर्म के कारण कौवे नित्य उद्विग्न रहते हैं। इसीलिए उन्हें जो भोजन मिलता है, वह उन के शरीर को नहीं लगता। बटेर ! इसीलिए मैं दुर्बल हूँ। हे बटेर ! तू तो घास-तिनके खाता है, जिनमें कुछ स्निग्धता नहीं रहती है। हे बटेर ! तू किस कारण से मोटा है ?)

यह सुन बटेर ने अपने मोटे होने का कारण कहते हुए तीन गाथायें कहीं—

अपिच्छा अप्पचिन्ताय अविदूर गमनेन च।
लद्धा लद्धेन यापेन्तो थूलो तेनास्मि वायस ॥
अप्पिच्छस्स हि पोसस्स अप्पचिन्तिसुखस्स च।
सुसंगहित पमाणस्स वुत्ती सुसमुदानिय ॥

(हे कौवे ! मैं अल्पेच्छा, अल्पचिंता, अधिक दूर न जाना पड़ने तथा जो भी मिल जाए उसी से गुजारा कर लेने के कारण मोटा हूँ। जो अल्पेच्छुक है, जिसे अल्प-चिन्ता रूपी सुख प्राप्त है, तथा जिसे अपने भोजन की मात्रा का ठीक ज्ञान है, उसी आदमी की जीवनचर्या सुखपूर्वक चल सकती है।) ”

इसी सारी कथा का ही नहीं, सारे लेख का सार इस एक परम्परागत सूक्ति में है—

"रुक्खा मिस्सा खा के ठण्डा पानी पी।
देख पराई चोपड़ी नां तरसाईं जी ॥"[1]

[रूखा मिस्सा (गेहूँ, चना आदि मिश्रित) खाकर ठंडा पानी पी ले। दूसरे की चुपड़ी देखकर कभी अपने मन में तृष्णा को स्थान न दे।]

[1] यह कहावत पंजाबी की है इसका हिन्दी रूप है—
रूखा सूखा खाय के ठंडा पानी पी।
देख पराई चोपड़ी क्यूँ तरसावे जी ॥

२८

हम बापू को देवता न बनायें—

जब हम अपने से इतर किसी मनुष्य में उन गुणों का समावेश देखते हैं जो हम में नहीं होते, किन्तु जिनका अपने या किसी दूसरे व्यक्ति में होना हम अच्छा समझते हैं, अथवा हम में उस मात्रा में नहीं होते जिस मात्रा में वे किसी दूसरे व्यक्ति में होते हैं तो हम में उस व्यक्ति के उन गुणों को अपने चरित्र में समावेश करने की इच्छा के साथ-साथ उस व्यक्ति के प्रति पूजा-बुद्धि पैदा हो जाती है।

इस पूजा-बुद्धि का कारण क्या है? यह गुणों की पूजा होती है अथवा गुणी की? इन प्रश्नों का उत्तर दे सकना सहज नहीं।

एक उत्तर तो ऊपर आ ही गया है, किन्तु मुझे साथ-ही-साथ ऐसा लगता है कि किसी व्यक्ति के प्रति ज्यों-ज्यों हमारी पूजा-बुद्धि बढ़ती है, त्यों त्यों उसी के साथ उसके प्रति हमारी दूरी भी बढ़ती जाती है। प्रकारान्तर से हमारी पूजा-बुद्धि हमारे चरित्र की एक प्रकार की हार होती है। वह इस बात की स्वीकृति होती है कि हम उस व्यक्ति के अनुकरणीय गुणों का अनुकरण नहीं कर सकते; हम कर सकते हैं केवल उसकी तथा उसके गुणों की पूजा।

जनता जाने-अनजाने, न जाने कब से यह आत्म-वञ्चना और पर-वञ्चना का खेल खेलती आ रही है। उन महापुरुषों की गिनती नहीं की जा सकती जिन्हें जनता ने अपनी 'पूजा-बुद्धि, के शस्त्र से मानव से 'देवता, बना-बना कर मार डाला। कदाचित उनके आदर्श-चरित्रों के

तेज से अपनी रक्षा करने के लिए जनता को यही सबसे अच्छा उपाय सूझा है कि, उन्हें 'देवता' बना कर उन की इतनी अधिक पूजा की जाय कि वे 'पूजनीय' तो जितने चाहें उतने बन जायें किन्तु अनुकरणीय बिलकुल न रहें ।

हमें श्री बरनार्ड शा का एक कथन याद आता है—मूर्खों के देश में एक देशभक्त 'महात्मा' बन जाता है। जहाँ सब कोई उसकी पूजा करते हैं किन्तु कोई उसका अनुकरण नहीं करता ।

कौन जाने श्री बरनार्ड शा हमारे देश की भी गिनती मूर्खों के देश में करते हों, और कौन जाने केवल हमारे देश को ही 'मूर्खों का देश' समझते हों ? जो हो, किन्तु इस में सन्देह नहीं कि अपनी पूजा-बुद्धि की मार से किसी को अत्यन्त 'पूजनीय' बना कर मार डालने की शक्ति में हमें हम किसी भी देश के मूर्खों से पीछे नहीं ।

न जाने हम ने कितने महापुरुषों को 'अवतार' बनाया । जैसे यह कोई गर्व करने की बात हो । राम और कृष्ण को तो 'अवतार' बनाया ही सही हम ने बुद्ध को भी 'अवतार' बनाया । और, अपने बापू को भी 'अवतार' बनाने पर तुले हुए हैं ।

बापू के जीवन-काल में ही बिहार में बापू का एक मन्दिर बनने जा रहा था, जिसमें बापू की पूजा की व्यवस्था होने को थी। बापू ने स्वयं उस का विरोध किया था ।

अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने अपनी मृत्यु के बाद शरीर का कोई भी हिस्सा बनाये रखने की मनाही कर दी थी। यह बापू की महानता के अनुरूप था ।

और बापू की महायात्रा के बाद देश ने उन की जितनी और जिस तरह की पूजा की वह पूजा भी इस देश की कृतज्ञता के प्रगटीकरण के अनुरूप थी ।

किन्तु इधर समाचारपत्रों में बापू की स्मृति को बनाये रखने के अनेक ऐसे प्रस्ताव प्रकाशित हो रहे हैं कि उन में से कुछ सचमुच उन्हें

'देवता' बनाने के ही प्रयत्न हैं। कर्म-विशेष का मनशा भिन्न रहने पर भी उसका फल भिन्न नहीं होता।

हम क्षमा किये जायें यदि हम कहें कि बम्बई में चौपाटी पर बापू की अस्सी फीट की मूर्ति बनाने का प्रस्ताव भी हमें उन्हें 'देवता' बना कर पूजनीय और शायद केवल 'दर्शनीय' बना डालने का प्रस्ताव ही मालूम देता है।

बम्बई में ही चौपाटी पर लोकमान्य तिलक की मूर्ति है। यदि कभी आप शाम के वक्त उधर टहलते हुए चले जायें तो यह देखकर आपका सर लज्जा से झुक जायगा कि बेशुमार कबूतर उस मूर्ति पर बैठे हुए उस पर सफेद पालिश कर रहे हैं।

बुद्ध से जब आनन्द ने पूछा था कि आपके शरीर के प्रति हम क्या करें, तो उन्होंने कहा था—"अब्यावटा तुम्हे होथ तथागतस्स सरीर पूजाय। तुम्हे सदत्थे अनुयुञ्जथ।"

"तुम लोग तथागत की शरीर-पूजा में न लगो। तुम लोग तो सदर्थ में लगो।"

सामान्य जन यदि बापू की शरीर पूजा में लगे भी रहें तो वह बहुत हानिकारक होने पर भी उतना आपत्तिजनक नहीं। किन्तु, अभी सेवाग्राम में देश-भर के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं की जो कान्फ्रेन्स हुई और जिस पण्डाल में हुई उस में लगे बापू के चित्र को देखकर हमें आश्चर्य हुआ—वह हमें एक तिनका लगा जो बताता था कि हवा का रुख किधर है!

बापू के चित्र में उनके मुख पर देवताओं अथवा अवतारों का-सा रश्मि-मण्डल बनाया गया था और उन्हें 'कमल' के फूल में खड़े हुए चित्रित किया गया था।

बापू जन्म-भर कभी धरती पर ही चले। सेवाग्राम सम्मेलन की पृष्ठ-भूमि में लगा हुआ उन का चित्र एक किसान बापू का चित्र हो सकता था, एक जुलाहे बापू का चित्र हो सकता था, एक भंगी बापू